सूर्या®

ॐ

नर्सरी टीचर्स ट्रेनिंग

Question Bank

Vision Early Childhood Care & Education
New Delhi

सूर्या
Question Bank

नर्सरी टीचर्स ट्रेनिंग
[NURSERY TEACHER TRAINING]

लेखक :
शर्मा एवं सक्सेना

एकमात्र वितरक
आर. लाल बुक डिपो
(AN ISO 9001-2008 Certified Company)
निकट राजकीय इण्टर कॉलेज, बेगम ब्रिज रोड, मेरठ-250001

विषय सूची

सैद्धान्तिक कार्य [Theoretical Work]

PAPER–I

बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास

(Child Psychology and Child Development) 1–15

PAPER–II

पूर्व प्राथमिक शिक्षा की अवधारणा

(Concept of Pre-Primary Education) 16–29

PAPER–III

नर्सरी स्कूल का व्यवस्थापन एवं प्रबन्धन

(Organization and Management of Nursery School) 30–49

PAPER–IV

बाल स्वास्थ्य शिक्षा, वैकल्पिक शिक्षा एवं निर्देशन

(Child Health Education, Alternative Education and Guidance) 50–62

PAPER–V

शिक्षण व मूल्य आधारित शिक्षा के आधुनिक तरीकें

(Modern Methods of Teaching and Value Based Education) 63–74

PAPER–VI

विषय शिक्षण के तरीकें

(Methods of Teaching Subjects) 74–88

प्रयोगात्मक कार्य [Practical Work]

1. पाठ योजना एवं अध्यापन अभ्यास

(Lesson Plan and Teaching Practice) 89–95

2. कला और शिल्प व अन्य फाइलें

(Art and Craft and Other Files) 96–105

3. शिक्षण सामग्री की तैयारी (कविता, भाषण और कहानी आदि)

[Preparation of Teaching Aids (Rhymes, Speech and Story Etc.)] 106–107

4. कम्प्यूटर जागरूकता, साक्षरता/ज्ञान

(Computer Awareness, Literacy/Knowledge) 108–115

5. प्राथमिक चिकित्सा और मौखिक परीक्षा

(First Aid and Viva-Voce) 116–124

सैद्धान्तिक कार्य [THEORETICAL WORK]

PAPAR-I

बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास

[CHILD PSYCHOLOGY AND CHILD DEVELOPMENT]

(A) बाल मनोविज्ञान (Child Psychology)

प्रश्न 1—बाल-मनोविज्ञान से आप क्या समझते हैं? बाल-मनोविज्ञान का अर्थ तथा परिभाषा दीजिए। बाल-मनोविज्ञान एवं बाल-विकास में क्या अन्तर है ?

उत्तर–

बाल-मनोविज्ञान

मनोविज्ञान एक व्यावहारिक विज्ञान है। इस व्यावहारिक विज्ञान की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। **डम्बिल** ने मनोविज्ञान को प्राणियों के व्यवहार का विधायक विज्ञान कहा है। **वुडवर्थ** अपने वातावरण के सम्बन्ध में व्यक्ति की क्रियाओं से सम्बन्धित विज्ञान को मनोविज्ञान की संज्ञा दी है। **जेम्स ड्रेवर** ने—मनोविज्ञान की परिभाषा प्राणियों के मानसिक तथा शारीरिक व्यवहार की व्याख्या करने वाली विज्ञान के रूप में की है और इसका सम्बन्ध भौतिक अनुबन्ध से है। मनोविज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाएँ जीवित प्राणी के व्यवहार का अध्ययन, व्याख्या, उन पर पड़ने वाले प्रभाव आदि सभी का अध्ययन करती हैं। मनोविज्ञान, चूँकि मानव व्यवहार का अध्ययन करता है तो वह उन सभी तथ्यों, घटकों का भी अध्ययन करता है जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

मनोविज्ञान व्यावहारिक विज्ञान है, इसलिए जीवन के जिन-जिन क्षेत्रों में मनोविज्ञान के सिद्धान्त तथा व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है, वे सब उसी की शाखाएँ बन जाती हैं। बालकों का अध्ययन जब मनोविज्ञान के आधार पर किया जाता है, तो वह बाल-मनोविज्ञान कहलाने लगता है।

बाल मनोविज्ञान के विषय में कुछ प्रश्न निम्न प्रकार उठाये जाते हैं—

1. क्या बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन व्यक्ति में इस क्षमता का विकास करता है कि वह विकास एवं परिवर्तन की सामान्य दिशा को तथा इसे पहचान सके ?
2. क्या यह विज्ञान बालकों में वांछित व्यावहारिक परिवर्तन की दिशाओं को स्पष्ट करता है?
3. क्या बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन बालक को सफल मार्गदर्शन प्रदान करता है ?

सामान्यत: यह माना जाता रहा है कि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से बालक की आवश्यकतायें सन्तुष्ट की जा सकती हैं, किन्तु यह भी उतनी ही सही है कि स्नेह, प्रेम, दया, ममता आदि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से उसके विकास तथा अभिवृद्धि में दोष आ जाता है।

1. क्रो एवं क्रो–"बाल-मनोविज्ञान एक वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें बालक के जन्म के पूर्व काल से लेकर किशोरावस्था तक का अध्ययन किया जाता है।"

2. थाम्पसन–"बाल-मनोविज्ञान सभी को एक नई दिशा में संकेत करता है। यदि उसे उचित रूप में समझा जा सके तथा उसका उचित समय पर उचित ढंग से विकास हो सके तो हर बच्चा एक सफल व्यक्ति बन सकता है।"

बाल-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ है। इसके अन्तर्गत बालकों के व्यवहार, स्थितियों समस्याओं तथा उन सभी कारणों का अध्ययन किया जाता है, जिसका प्रभाव बालक के व्यवहार एवं विकास पर पड़ता है, आज के युग में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक कारक मनुष्य तथा उसके परिवेश को प्रभावित कर रहे हैं। परिणामस्वरूप बालक, जो भावी समय की आधार शिला होता है, प्रभावित होता है।

बाल-विकास और बाल-मनोविज्ञान में अन्तर

बीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक अधिकांश मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन बाल-व्यवहार के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बन्धित थे। अधिकांश अध्ययन संवेग, रुचि, खेल, भाषा, बालकों की विभिन्न क्रियाएँ, नवजात शिशुओं की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ आदि। इन क्षेत्रों से सम्बन्धित अधिकांश अध्ययन नवजात शिशुओं या स्कूल के छोटे-छोटे बच्चो तक सीमित थे। इस प्रकार के अध्ययन जिस शाखा द्वारा किये जाते थे, उसे बाल-मनोविज्ञान (Child Psychology) कहा जाता था। धीरे-धीरे बाल-मनोविज्ञान को लोकप्रियता बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप, इस दिशा में मनोवैज्ञानिकों की रुचि बढ़ी और इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययन होने लगे। इन अध्ययनों के परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि केवल भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर बाल-व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन करना ही पर्याप्त और उपयुक्त नहीं है। इन मनोवैज्ञानिकों ने यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार के अध्ययनों से पता नहीं चलता है कि बालकों की आयु में वृद्धि के साथ-साथ उनकी व्यवहार-विशेषताओं में क्या-क्या तथा किन कारणों से परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव की पूर्ति हेतु बाल-मनोविज्ञान में दो अध्ययन प्रणालियों (समकालीन और दीर्घकालीन अध्ययन प्रणालियाँ) का प्रचलन प्रारम्भ हुआ और 'बाल-मनोविज्ञान' शब्द के स्थान पर 'बाल-विकास' शब्द का उपयोग किया जाने लगा।

हरलॉक (1978) ने बाल-मनोविज्ञान और बाल-विकास के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "The name Child Psychology was changed to Child Development to emphasize that the focus was now on the pattern of the child development rather than certain aspects of development." मनोवैज्ञानिकों ने बाल-मनोविज्ञान को बाल-विकास उस समय कहना प्रारम्भ किया जब बाल-मनोविज्ञान का क्षेत्र बाल्यावस्था से युवावस्था तक हो गया। यहाँ युवावस्था के व्यक्ति का अभिप्राय उस व्यक्ति से है, जो यद्यपि सेक्स की दृष्टि से परिपक्व होता है, परन्तु उसे प्रौढ़ावस्था से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों, अधिकारों और सुविधाओं को रखने की दृष्टि से परिपक्व नहीं समझा जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से अब स्पष्ट हो गया है कि बाल-मनोविज्ञान की अपेक्षा बाल-विकास बहुत अधिक विस्तृत और व्यापक है। 'Child Psychology' के स्थान पर 'Child Development' शब्द का प्रयोग मुख्यत: इस कारण होने लगा कि बाल-मनोविज्ञान में अधिक अनुसंधानों की आवश्यकता थी।

प्रश्न 2—बाल-मनोविज्ञान के विषय विस्तार अथवा अध्ययन क्षेत्र का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर–

बाल मनोविज्ञान का विषय विस्तार अथवा अध्ययन क्षेत्र

बाल-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की शाखा के रूप में व्यावहारिक तथा विधायक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है। **डम्बिल** ने मनोविज्ञान को प्राणियों के व्यवहार का विधायक विज्ञान कहा है। **ड्रेवर** ने मनोविज्ञान की परिभाषा प्राणियों के मानसिक एवं शारीरिक व्यवहार की व्याख्या करने वाले विज्ञान के रूप में की है। इसी प्रकार बाल-मनोविज्ञान के अन्तर्गत बालकों के व्यवहार, उनकी परिस्थितियों तथा पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

बाल-मनोविज्ञान के विस्तार के विषय में कुछ प्रश्न निम्न प्रकार उठाये जाते हैं—

1. क्या बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन व्यक्ति में इस क्षमता का विकास करता है कि वह विकास तथा परिवर्तन की दिशाओं को पहचान सके ?
2. क्या यह विज्ञान बालकों में वांछित व्यावहारिक परिवर्तन की दिशाओं को स्पष्ट करता है ?
3. क्या बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन बालक को सफल मार्गदर्शन प्रदान करता है ?

सामान्यत: यह माना जाता रहा है कि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से बालक की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट की जा सकती हैं, किन्तु यह भी उतना ही सही है कि स्नेह, प्रेम, दया, ममता आदि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से उसके विकास तथा अभिवृद्धि में दोष आ जाता है।

1. थाम्पसन–"बाल-मनोविज्ञान सभी को एक नई दिशा में संकेत करता है। यदि उसे उचित रूप में समझा जा सके तथा उसका उचित समय पर उचित ढंग से विकास हो सके तो हर बच्चा एक सफल व्यक्ति बन सकता है।"

2. क्रो एवं क्रो–"बाल-मनोविज्ञान एक वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें बालक के जन्म-पूर्व काल से लेकर किशोरावस्था तक का अध्ययन किया जाता है।"

बाल-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ है। इसके अन्तर्गत बालकों के व्यवहार, स्थितियाँ, समस्याओं तथा उन सभी कारणों का अध्ययन किया जाता है, जिनका प्रभाव बालक के व्यवहार विकास पर पड़ता है। आज के युग में अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक कारक मनुष्य तथा उसके परिवेश को प्रभावित कर रहे हैं। फलस्वरूप बालक, जो भावी समय की आधारशिला होता है, प्रभावित होता है।

बाल-मनोविज्ञान का विकास, विकासात्मक मनोविज्ञान से हुआ। **हरलॉक** के अनुसार—"विकासात्मक मनोविज्ञान की वह शाखा है, जो गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त तक होने वाले मनुष्य के विकास के विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान देते हुए अध्ययन करती है। प्रारम्भ में केवल स्कूल जाने से पहले की आयु के बच्चों के विकास में रुचि ली जाने लगी, इसके बाद नवजात शिशु तथा जन्म से पहले की उसकी अवस्था पर भी ध्यान दिया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के कुछ बाद किशोरावस्था के विषय में किये गये खोजपूर्ण अध्ययन उत्तरोत्तर अधिक संख्या में प्रकाशित होने लगे और दूसरे महायुद्ध के बाद प्रौढ़ावस्था तथा जीवन के उत्तरकालीन वर्षों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।"

विकास की प्रक्रिया में बालक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभिभावक, शिक्षक, समाज-सुधारक, राजनेता सभी की आवश्यकताओं का केन्द्र बालक होता है। माता-पिता बालक को ईश्वर की देन मानते हैं तथा आशा करते हैं कि वह पूर्वजों की भाँति शौर्य तथा कीर्ति का प्रदर्शन करे एवं मोक्ष प्राप्ति में सहायक बने। शिक्षक चाहता है—बालक समाज का उपयोगी अंग बने, समाज सुधारक उसमें ऐसे गुणों तथा कौशलों के दर्शन करना चाहता है, जिनसे समाज में सामाजिक कुशलता का निर्माण हो सके। इसी प्रकार राजनेता, राष्ट्र के कुशल नेतृत्व के दर्शन बालक में करता है।

अब यह समझा जाने लगा है कि बाल-मनोविज्ञान के स्थान पर बाल-विकास नाम को प्रचलित किया जाय। बाल-मनोविज्ञान में बालक के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है, लेकिन विकास के अन्तर्गत उन सभी तथ्यों तथा घटकों का अध्ययन किया जाता है, जो बालक के व्यवहार को निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रारम्भ में बाल-मनोविज्ञान के अन्तर्गत शिशुओं तथा बालकों की समस्याओं के अलग-अलग अध्ययन किये गये। इसमें अध्ययन को पूर्णता नहीं मिली। **हरलॉक** के अनुसार—"बाल-मनोविज्ञान का नाम बाल-विकास इसलिए बदला गया कि अब बालक के विकास की समस्त प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, किसी एक पक्ष पर नहीं।"

इस दृष्टि से बाल-मनोविज्ञान का विषय विस्तार इस प्रकार है—

1. मनोविश्लेषण–बाल-मनोविज्ञान, बालकों के मन का विश्लेषण कर बालकों की भावना ग्रन्थियों का पता लगाता है तथा बालकों के सन्तुलित विकास में योग देता है।

2. शिक्षा मनोविज्ञान–बाल-मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान के साथ मिलकर बालकों का शैक्षिक विकास करता है।

3. समाजशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानव विज्ञान–बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन समाजशास्त्र तथा सांस्कृतिक मानव विज्ञान के अध्ययनों में सहायक होता है, बाल-मनोविज्ञान ने यह बताया है कि बालक की आवश्यकताओं का स्रोत उसका परिवेश होता है।

4. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान–प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के माध्यम से बाल-व्यवहार का अध्ययन कर विभिन्न परिणाम ज्ञात किये जाते हैं।

5. चिकित्सा–बाल-मनोविज्ञान चिकित्सा के क्षेत्र में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। चिकित्सा विज्ञान भी बालक को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने लगा है।

6. मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान–बाल-मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी योग दिया है। बाल-मनोविज्ञान, बालकों के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए विभिन्न उपाय सुझाता है।

7. बाल-कल्याण–बाल-मनोविज्ञान ने बाल-मनोविज्ञानशाला, निर्देशन केन्द्र तथा कल्याणकारी योजनाओं की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ➤

प्रश्न 3—बाल-मनोविज्ञान की उपयोगिता तथा महत्त्व का वर्णन कीजिए।

उत्तर– **बाल-मनोविज्ञान की उपयोगिता और महत्त्व**

आधुनिक युग में बाल-विकास का अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में हुए अध्ययनों से न केवल बालकों का ही कल्याण हुआ है, माता-पिता को बालकों को समझने में बहुत सुविधा भी मिली है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मानव-समाज का भी कल्याण हुआ है। मनोविज्ञान की इस शाखा के अध्ययन से बालकों के जीवन को सुखी ही नहीं बनाया जा सकता है, बल्कि उनके व्यवहार को प्रशंसनीय और उनके जीवन को समृद्धिशाली भी बनाया जा सकता है। इस विषय के अध्ययनों से शिक्षक, बाल-चिकित्सक, बाल-सुधारक आदि सभी लाभान्वित हुए हैं। इस विषय की उपयोगिता और महत्त्व के सम्बन्ध में कितना ही लिखा जाय, कम है। संक्षेप में, इस विषय की उपयोगिता और महत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. बालकों के शिक्षण और शिक्षा में उपयोगी–बालक में सीखने की प्रक्रिया का प्रारम्भ जन्म के कुछ दिनों बाद ही हो जाता है। जैसे-जैसे उसकी शारीरिक और मानसिक, परिपक्वता बढ़ती जाती है, उसमें सीखने की क्षमता उतनी ही बढ़ती जाती है; साथ-ही-साथ वह जटिल चीजों को सीखने के लिए अधिक तथा और अधिक योग्य होता जाता है। प्रारम्भ में वह अपनी माँ के चेहरे को पहचानना सीखता है, फिर अन्य परिवारीजनों अथवा उसके निकट रहने वाले लोगों को। इस प्रक्रिया के द्वारा उठना, बैठना, दौड़ना, कूदना, बोलना आदि सब कुछ सीखता है। विभिन्न कौशलों का अधिगम भी वह करता है। कुछ विशेषताएँ वह परिपक्वता के साथ-साथ सामाजिक अन्त:क्रियाओ के कारण सीखता है, परन्तु अन्य विशेषताओं और गुणों को बालक को सिखाना भी पड़ता है। बालकों को सिखाने में, उनकी शिक्षा और प्रशिक्षण में बाल-विकास का ज्ञान बहुत उपयोगी है।

2. बालकों के स्वभाव को समझने में उपयोगी–बालकों के व्यवहार-विकास का अध्ययन बाल-मनोविज्ञान में किया जाता है। बालक के विभिन्न आयु-स्तरों पर बालक की विभिन्न व्यवहार-विशेषताओं का अध्ययन तथा विभिन्न व्यवहारों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का अध्ययन बाल-मनोविज्ञान में किया जाता है। बाल-विकास के ये सभी प्रकार के अध्ययन बालकों के स्वभाव को समझने में बहुत अधिक सहायक हैं; क्योंकि बाल-विकास के अध्ययन से उनकी विभिन्न शारीरिक, मानसिक योग्यताओं का तथा विभिन्न मनोवैज्ञानिक विशेषताओं तथा बालक की अन्त:क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वास्तव में, इस ज्ञान के आधार पर ही बालकों की प्रकृति को अच्छी तरह समझा जा सकता है। विज्ञान की अन्य और कोई भी शाखा नहीं है, जिससे बालकों के स्वभाव और विकास आदि का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। माता-पिता, शिक्षकों, बाल-सुधारकों एवं बाल-निर्देशनकर्त्ताओं आदि के लिए इस विषय का ज्ञान बहुत उपयोगी है, क्योंकि इस विषय के ज्ञान के आधार पर वह प्रत्येक आयु के बालक की व्यवहार-प्रकृति को सरलता से समझ सकते हैं।

3. बालकों के विकास को समझने में सहायक–सभी बालकों का विकास कुछ विशेष सिद्धान्तों और नियमों के आधार पर होता है, परन्तु बालकों का विकास समान प्रकार का न होकर उनमें कुछ-कुछ वैयक्तिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। एक बालक कब चलना सीखता है, कब बोलना सीखता है, कब कपड़े पहनना सीखता है, कब कपड़ों में बटन लगाना और उतारना सीखता है ? किस विकास अवस्था में यौन-परिपक्वता उत्पन्न होती है ? **गेसेल** (1950) ने विकासात्मक कार्यों (Development Tasks) की एक सूची बनाई है। इस सूची से ज्ञात किया जा सकता है कि विभिन्न विकास-अवस्थाओं और आयु-स्तरों पर बालक में किन विशिष्ट व्यवहारों की अभिव्यक्ति होती है। भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर बालकों की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं के मानक (Norms) भी उपलब्ध हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बाल-विकास के अध्ययन के द्वारा भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के विकास को समझाया जा सकता है।

4. बालकों के व्यक्तित्व-विकास को समझने में उपयोगी (Useful in Understanding Personality Development of Children)—बाल-विकास के अध्ययनों में व्यक्तित्व-सम्बन्धी अध्ययन भी सम्मिलित हैं। इन अध्ययनों से बालकों के व्यक्तित्व विकास की भी जानकारी प्राप्त होती है। भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर बालकों के व्यक्तित्व-विकास को कौन-कौन से कारक प्रभावित करते हैं, व्यक्तित्व विकास किन कारणों से असामान्य हो जाता है, आदि प्रश्नों को समझने में बाल-विकास का ज्ञान सहायक है। इस विषय के ज्ञान के आधार पर यह भी ज्ञात हो जाता है कि व्यक्तित्व-विकास में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों की क्या-क्या प्रक्रियाएँ हैं।

5. बाल-निर्देशन में सहायक (Useful in Child Guidance)—बालकों का निर्देशन समय-समय पर माता-पिता भी करते हैं और आवश्यकतानुसार बाल-निर्देशनकर्त्ता की भी सहायता ली जा सकती है। निर्देशन चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, दोनों प्रकार के

निर्देशन में बाल-विकास का ज्ञान सहायक है। बाल-विकास के नियमों और सिद्धान्तों आदि के आधार पर बालकों को शैक्षिक, व्यावसायिक, व्यक्तिगत, निर्देशन तो दिया ही जा सकता है, साथ ही साथ रुचियों एवं कौशलों (Skills) के अधिगम के लिए भी उन्हें निर्देशित कर योग्य तथा कुशल बनाया जा सकता है।

6. सुखी पारिवारिक जीवन बनाने में सहायक (Useful in Making Happy Family Life)—बच्चे परिवार की शोभा होते है। बच्चे यदि चरित्रवान, गुणवान, आकर्षक तथा आज्ञापालक है तो निश्चय ही ऐसे बच्चे माता-पिता और घर वालो की सुख, शान्ति तथा समृद्धि के लिए सहायक होते हैं। बाल-विकास अध्ययनों के आधार पर बच्चों में वांछित व्यवहारों को उत्पन्न किया जा सकता है और सुखी पारिवारिक जीवन की स्थापना की जा सकती है।

7. बालकों के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने में उपयोगी (Useful in Creating Good Environment for Children)—किस आयु के बालकों को क्या-क्या पसन्द होता है ? भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर उनकी क्या-क्या रुचियाँ होती हैं ? इस सबका ज्ञान बाल-विकास अध्ययनों से प्राप्त होता है। इस विषय के ज्ञान के आधार पर उनके खेलने की उपयुक्त सुविधा, उनकी पसन्द के अनुसार रंग-बिरंगी वस्तुएँ तथा उपयुक्त सामाजिक वातावरण को निर्मित करने में बाल-विकास का ज्ञान सहायक है। कई बार इसी विषय के ज्ञान के आधार पर रेडियो, टेलीविजन पर मनोरंजन कार्यक्रम दिये जाते हैं।

8. बालकों के व्यवहार के नियन्त्रण में सहायक (Useful in Controlling the Behaviour of Children)—बाल-विकास अध्ययनों के आधार पर बालकों के बुरे व्यवहार और आदतों को कम या दूर किया जा सकता है। समय-समय पर लगभग हर बच्चे में थोड़ा-बहुत प्रतीकात्मक भाषा बोलने, गाली बकने, जिद करने, मारपीट करने सम्बन्धी व्यवहार देखे गये हैं। झूठ बोलने और चोरी करने जैसे लक्षण भी बच्चों में अक्सर देखे जाते हैं। बाल-विकास के अध्ययनों, नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर बालकों के इस प्रकार के व्यवहार को नियन्त्रित किया जा सकता है।

9. बाल-व्यवहार के सम्बन्ध में पूर्वकथन करने में सहायक (Useful in Prediction)—बाल-विकास का एक व्यावहारिक उपयोग यह भी है कि इस विषय के ज्ञान के आधार पर भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के सम्बन्ध में पूर्वकथन किया जा सकता है कि भिन्न-भिन्न आयु-स्तरों पर लड़के तथा लड़कियों की लम्बाई, भार, बुद्धि तथा व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएँ क्या-क्या होंगी। ➤

प्रश्न 4—बाल-मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ कौन-कौन सी हैं ? वर्णन कीजिये।

उत्तर–

बाल-मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ

बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कई विधियों का विकास किया है। इन विधियों से जो परिणाम प्राप्त होते हैं, उन्हें विश्वसनीय तथा वैध कहा जा सकता है। बाल-मनोविज्ञान की अध्ययन विधियाँ निम्न प्रकार हैं—

1. नियन्त्रित निरीक्षण विधि–नियन्त्रित निरीक्षण विधि बालक के निजी व्यवहार का अंकन करने में सहायक होती है। इसमें निरीक्षणकर्त्ता चैकलिस्ट या सिम्पटन शीट के द्वारा बालक के व्यवहार का अंकन करता है। इस विधि की अनेक प्रविधियों में से मुख्य इस प्रकार हैं—

(a) सामुदायिक सर्वेक्षण–इस विधि द्वारा किसी समुदाय में रहने वाले बालकों का अध्ययन किया जाता है। इससे किसी विशेष समुदाय के बालकों में विशेष व्यवहार क्यों उत्पन्न होता है, यह अन्य समुदायों के बालकों के व्यवहार से क्यों भिन्न होता है, की जानकारी मिलती है।

(b) चैक-लिस्ट–यह बालकों के विभिन्न प्रकार के विकास तथा व्यवहारों की एक सूची होती है। इस सूची में दिये गये पदों के अनुसार जाँच करके ही व्यवहार तथा विकास का निरीक्षण किया जाता है।

(c) परिस्थिति विश्लेषण–विभिन्न परिस्थितियों में घटने वाले बालक के व्यवहार का अध्ययन इस विधि द्वारा किया जाता है। माता-पिता, शिक्षक, साथी, समुदाय आदि सभी पक्षों के साथ बालक के व्यवहार में क्यों भिन्नता पाई जाती है, इस बात की जानकारी उन परिस्थितियों का विश्लेषण करने से होती है, जिनमें निर्दिष्ट व्यवहार किया जाता है।

(d) समय निर्देशन–इस विधि द्वारा किसी निर्धारित समय में बालक के विकास तथा व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है। एक वर्ष में अनेक बालकों के शारीरिक विकास में भिन्नता तथा उसके कारकों की जानकारी इस विधि से हो जाती है।

उपर्युक्त चारो पद्धितियो की सीमाएँ इस प्रकार है—

(i) इन विधियो द्वारा एक साथ बहुत से बालको का अध्ययन नही किया जा सकता।

(ii) इनका प्रयोग प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकते है।

(iii) इन विधियो का प्रयोग करते समय वातावरण को नियन्त्रित करने मे कठिनाई आती है।

2. **प्रश्नावली विधि**–विभिन्न प्रश्नो के उत्तर बालको से प्राप्त किये जाते है। उनके उत्तरो के अध्ययन पर बालक के विकास का अध्ययन किया जाता है। **जी० स्टेलने हॉल** ने सर्वप्रथम 123 प्रश्नो की सूची बोस्टन स्कूल के बच्चो का अध्ययन करने के लिए तैयार की। **पाइल्स, स्टोल्ज** आदि ने भी इस विधि का आश्रय लिया। इस विधि की सीमाएँ इस प्रकार है—

(i) बच्चे प्रश्नो का भाव कठिन भाषा होने के कारण समझ नही पाते,

(ii) काम (Sex) सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर नही मिल पाते,

(iii) जानबूझकर गलत उत्तर आ जाते है,

(iv) माता-पिता पक्षपातपूर्ण उत्तर देते है।

3. **जीवन वृत्तान्त विधि**–इस विधि द्वारा बालकों के जीवन-क्रम का लेखा-जोखा सतर्कतापूर्वक रखा जाता है। बालक के जन्म के समय होने वाली घटनाओं का संकलन किया जाता है। माता-पिता, अभिभावक तथा रिश्तेदारों से बालक के बारे मे सूचना माँगी जाती है। 1885 ई० मे **प्रेयर** ने जर्मनी मे इस विधि का प्रयोग किया था।

4. **मनोभौतिकी विधि**–मनोभौतिकी विधि द्वारा मन तथा शरीर के सम्बन्धों के आधार पर व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। शरीर के विकास के साथ-साथ शरीर की अन्य मानसिक शक्तियों का विकास भी होता है। इसी अध्ययन पर **बिने** ने बुद्धि-लब्धि की कल्पना की तथा मानसिक आयु का विचार प्रतिस्थापित किया।

इसी विधि में उद्दीपन, अनुक्रिया के मध्य होने वाले सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। किसी भी उद्देश्य से शरीर तथा व्यवहार मे क्या परिवर्तन होते हैं, यह जानना ही इस विधि का उद्देश्य है। इस विधि के द्वारा प्राणी की अवसीमा की सत्यता को जानने का प्रयास किया जाता है।

5. **आत्मनिष्ठ अंकन विधि**–आत्मनिष्ठ अंकन विधि में बालक के अनौपचारिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इससे बालक के बारे में विभिन्न महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। यह विधि सरल है तथा इससे प्राप्त सूचनाओं का उपयोग तुलना करने मे किया जाता है।

6. **चिकित्सात्मक विधि**–चिकित्सात्मक विधि साधारणतया विशिष्ट अधिगम, व्यक्तित्व या आचरण सम्बन्धी जटिल ग्रन्थियो के अध्ययन के लिए काम में लाई जाती है और उसमें विचाराधीन समस्या के अनुकूल विविध क्लिनिकल कार्य पद्धतियाँ तथा प्रविधियाँ इस्तेमाल की जाती हैं। उनका लक्ष्य इस बात को पहचानना अथवा मालूम करना होता है कि उनमें ग्रन्थि किन कारणों से पैदा हुई है, और पात्र को क्या सहायता दी जानी चाहिये ? बालकों में कभी-कभी असामान्य व्यवहार पाया जाता है। यदि इस असामान्य व्यवहार का समय रहते उपचार नहीं किया जाता तो उसमें मानसिक विक्षिप्तता विकसित होने लगती है। चिकित्सात्मक विधि द्वारा ही ऐसे बालकों का उपचार किया जाता है।

7. **सांख्यिकी विधि**–सांख्यिकी विधि से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण किया जाता है तथा परिणामों की विश्वसनीयता तथा वैधता की जाँच की जाती है।

8. **प्रयोगात्मक विधि**–प्रयोगात्मक विधि का उपयोग नियोजित वातावरण में बालकों के विकास के अध्ययन में किया जाता है। इस विधि में एक वर्ग नियन्त्रित रहता है और एक प्रयोगात्मक। दोनों वर्गों से प्राप्त परिणामों की तुलना की जाती है। यह विधि मनोवैज्ञानिक, विश्वसनीय तथा वैध है।

(B) बाल विकास (Child Development)

प्रश्न 5—वृद्धि एवं विकास से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए। वृद्धि एवं विकास में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—

वृद्धि

व्यक्ति का शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक, शरीर के विभिन्न अंगों के आकार में परिवर्तन के साथ-साथ शरीर की लम्बाई, चौड़ाई तथा भार भी परिवर्तित होता रहता है। व्यक्ति के शरीर की रचना मे परिवर्तन होने का सर्व-प्रमुख कारण, बाह्य वातावरण से अन्त:क्रिया करना है। व्यक्ति के शरीर की कोशिकाओं का निर्माण एवं विघटन, सामाजिक वातावरण, भोजन तथा जलवायु आदि के प्रभावस्वरूप होता रहता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के शरीर की कभी लम्बाई, चौड़ाई एवं भार में वृद्धि होती है, तो कभी उसका विघटन होता है। व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि को मापा जा सकता है। अत: वृद्धि व्यक्ति के शरीर से सम्बन्धित होती है। यदि पूर्व की अपेक्षा व्यक्ति के शरीर की लम्बाई, चौड़ाई एवं भार में थोड़ी-सी भी बढ़ोतरी होती है तो उसे आम वृद्धि कहा जा सकता है। **सोरेनसन** (Sorenson) के शब्दों में, "अभिवृद्धि से आशय शरीर तथा शारीरिक अंगों में भार तथा आकार की दृष्टि से वृद्धि होना है, ऐसी वृद्धि जिसका मापन संभव हो।"

विकास

विकास शब्द परिवर्तन का द्योतक है। व्यक्ति में यथा समय होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को ही विकास कहा जाता है। विकास के अन्तर्गत व्यक्ति में मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक तथा शारीरिक दृष्टि से होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है अर्थात् व्यक्ति में होने वाले समस्त परिवर्तनों को विकास कहा जाता है। व्यक्ति में होने वाले परिवर्तनों पर वैयक्तित्क भिन्नता का प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के विकास में एक निश्चित दिशा होती है अथवा परिवर्तन एक निर्धारित क्रम की दिशा में होता है। यह विकास कभी अवरुद्ध नहीं होता वरन् शनै:-शनै: सतत् रूप से, किसी न किसी रूप में होता है। विकास के अन्तर्गत व्यक्ति सतत् रूप से परिपक्वता की दिशा में बढ़ता रहता है, परिणामस्वरूप व्यक्ति की विभिन्न विशेषताओं में विभिन्न गुणात्मक परिवर्तनों को देखा जा सकता है। विकास के अन्तर्गत सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, मानसिक, शारीरिक एवं संवेगात्मक परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है और ये परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं—

(1) मात्रात्मक परिवर्तन, (2) गुणात्मक परिवर्तन।

स्किनर के अनुसार—"विकास जीव और उसके वातावरण की अन्त:क्रिया का प्रतिफल है।"

हरलॉक के विचारों में—"विकास, अभिवृद्धि तक ही सीमित नहीं है। इसके बजाय, इसमें परिपक्वावस्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषताएँ और नवीन योग्यताएँ प्रकट होती हैं।"

गेसेल के अनुसार, "विकास, प्रत्यय से अधिक है। इसे देखा, जाँचा और किसी सीमा तक तीन प्रमुख दिशाओं—शरीर अंक विश्लेषण, शरीर ज्ञान तथा व्यवहारात्मक में मापा जा सकता है। इस सब में व्यावहारिक संकेत की सबसे अधिक विकासात्मक स्तर और विकासात्मक शक्तियों को व्यक्त करने का माध्यम है।"

वृद्धि एवं विकास

वृद्धि शारीरिक अभिवृद्धि को बताती है जबकि विकास प्रगतिशील परिवर्तनों का द्योतक है।

बालक विशेष की जीवन यात्रा अपनी माँ के गर्भ में गर्भाधान की क्रिया के तत्काल बाद शुरू हो जाती है। धीरे-धीरे निषेचित अण्डे (अंकुरित बीज की तरह) से वृद्धि और विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप विकास को प्राप्त होता हुआ वह एक पूर्णरूप से विकसित (एक विकसित पौधे या वृक्ष की तरह) मानव बन जाता है। वृद्धि एवं विकास प्रक्रिया से जुड़े हुए दोनों पद 'वृद्धि' तथा 'विकास' यद्यपि साथ-साथ प्रयुक्त होने के कारण समानार्थी दिखाई देते हैं। परन्तु अर्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से इनमें पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसे निम्न प्रकार स्पष्ट किया जाता है—

(1) वृद्धि की तुलना में विकास शब्द अपने आप में काफी अधिक व्यापक और विस्तृत अर्थ रखता है। विकास से परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जबकि वृद्धि शब्द केवल मात्र परिमाण या तादाद् संबंधी परिवर्तनों (जैसे आकार, लम्बाई और भार में होने वाले परिवर्तनों, शब्द भण्डार में वृद्धि आदि) के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त जहाँ वृद्धि में परिपक्वता ग्रहण करने के पश्चात् विराम लग जाता है वहाँ विकास की प्रक्रिया गर्भाधान से प्रारंभ होकर मृत्यु-पर्यन्त चलती रहती है।

(2) वृद्धि और विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप गर्भाधान के समय से लेकर मृत्यु तक समय विशेष पर व्यक्ति बालक, किशोर, प्रौढ़ तथा वृद्ध के नाम से पुकारा जाता है। ये सभी नाम उसकी वृद्धि और विकास को विशेष अवस्थाओं के द्योतक हैं। मानव-वृद्धि और विकास की इन सभी अवस्थाओं का एक निश्चित कार्यकाल होता है और एक निश्चित प्रकार के व्यवहार, व्यक्तित्व, गुणों और विकास स्तर का प्रदर्शन इन सभी अवस्थाओं मे देखने को मिलता है।

(3) व्यक्तित्व के जिन पक्षों या आयामों में हमें वृद्धि और विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अन्तर दिखाई देते हैं जैसे शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, नैतिक तथा भाषागत आयाम आदि। इन्हें ही हम दूसरे शब्दों में वृद्धि एव विकास के विभिन्न आयामों की संज्ञा देते हैं और अपने शैक्षिक प्रयासों द्वारा इन्हीं आयामो मे अधिक से अधिक विकास को प्रापत होने से हम बालकों की भरसक सहायता करते हैं।

अभिवृद्धि (वृद्धि) एवं विकास में अन्तर

अभिवृद्धि एव विकास में अन्तर निम्न तालिका मे दिया गया है—

	अभिवृद्धि/वृद्धि	विकास
1.	वृद्धि से आशय शारीरिक एवं व्यावहारिक परिवर्तनों से है।	जबकि विकास से आशय शरीर के विभिन्न शारीरिक, मानसिक तथा व्यावहारिक संगठन से है।
2.	वृद्धि का सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक परिपक्वता से है।	जबकि विकास वातावरण से भी सम्बन्धित होता है।
3.	वृद्धि किसी 1वशेष पक्ष अथवा आंशिक स्वरूप को ही व्यक्त करती है।	जबकि विकास प्राणी में होने वाले कुल परिवर्तनों का योग है।
4.	वृद्धि का मापन सही है। जैसे—शरीर की लम्बाई व भार की वृद्धि को मापा जा सकता है।	विकास के परिवर्तनों को होते हुए देखा जा सकता है। जैसे—आंतरिक परिवर्तनों एवं योग्यताओं को केवल अवलोकित किया जा सकता है।
5.	वृद्धि निश्चित आयु के पश्चात् रुक जाती है।	जबकि विकास जीवन-पर्यन्त चलता रहता है।
6.	वृद्धि में व्यक्तिगत भेद होते हैं। प्रत्येक बालक की वृद्धि समान नहीं होती।	जबकि विकास में समानता पाई जाती है, किन्तु इसकी दर सीमा आदि में अवश्य अन्तर होता है।
7.	वृद्धि का अर्थ संकुचित है। यह विकास के अवयवों में से ही एक है।	जबकि विकास का अर्थ व्यापक है। शारीरिक विकास के साथ-साथ बौद्धिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक विकास भी होता है।
8.	वृद्धि पर वातावरणीय कारकों के अनुसार प्रभाव पड़ता है। वह लाभप्रद अथवा हानिकारक हो सकता है।	जबकि इसमें परिपक्वता के विकास का सम्बन्ध वृद्धि में ही निहित है।

प्रश्न 6—विकास क्रम में होने वाले परिवर्तनों को समझाइये। बाल विकास के विभिन्न पक्षों का वर्णन कीजिए। वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करने वाले कारकों को बताइये।

उत्तर—

विकास क्रम में होने वाले परिवर्तन

विकास क्रम में होने वाले परिवर्तनों को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(1) आकार परिवर्तन—जन्म के वाद ज्यों-ज्यों बालक की आयु बढ़ती जाती है, उसके शरीर में परिवर्तन होता जाता है। शरीर के ये परिवर्तन-बाह्य एवं आन्तरिक दोनों अवयवों में होते हैं। शरीर की लम्बाई, चौड़ाई एवं भार में वृद्धि होती है। आन्तरिवअंग जैसे हृदय, मस्तिष्क, उदर, फेफड़ों आदि का आकार भी बढ़ता है। शारीरिक परिवर्तनों के साथ-साथ मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। आयु में वृद्धि के साथ-साथ बालक का शव्दकोश बढ़ता है और स्मरण-शक्ति का भी विस्तार होता है।

(2) अंग-प्रत्यंगों के अनुपात में परिवर्तन—बालक एव वयस्क के अंग-प्रत्यंगों के अनुपात मे अन्तर होता है। बाल्यावस्था में हाथ-पैर की अपेक्षा सिर बड़ा होता है, किन्तु किशोरावस्था में आने पर यह अनुपात वयस्को के समान होता है। इसी प्रकार का अन्तर मानसिक विकास में भी देखने को मिलता है। प्रारम्भ मे बालक काल्पनिक जगत मे घूमता है, किन्तु किशोरावस्था के बाद वह वास्तविक जगत में आ जाता है। बाल्यावस्था में बालक आत्म-केन्द्रित होता है किन्तु किशोरावस्था मे वह विषमलिंगी में रुचि लेने लगता है।

(3) कुछ चिन्हों का लोप—विकास के साथ ही थाइमस ग्रन्थि, दूध के दाँत आदि का लोप हो जाता है। इसके साथ ही वह बाल-क्रियाओं एवं क्रीड़ाओं को भी त्याग देता है।

(4) नवीन चिन्हों का प्रकटीकरण—आयु मे वृद्धि के साथ-साथ बालक में अनेक नवीन शारीरिक एवं मानसिक चिन्ह प्रकट होते रहते है; उदाहरण के लिए, स्थायी दाँतों का उगना। इसके साथ ही लैंगिक चेतना का भी विकास होता है। किशोरावस्था में चेहरे एवं गुप्तांगों पर बाल उगने प्रारम्भ हो जाते है।

बाल विकास के विभिन्न पक्ष

शारीरिक विकास

बालक के विकास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका शारीरिक विकास है। व्यक्ति के शारीरिक विकास की जन्म-पूर्व अवस्था, शैशवस्था तथा किशोरावस्था में बाँटकर समझा जा सकता है। जन्म-पूर्व में निषेचन से लेकर जन्म होने तक की लगभग 9 माह की अवधि पर्यन्त शिशु का विकास होता है। शैशवास्था तथा बाल्यावस्था में तीव्र गति से शारीरिक विकास होता है जबकि किशोरावस्था में शारीरिक विकास में स्थायीत्व आने लगता है। वंशानुक्रम, वातावरण, भोंजन, दिनचर्या, खेलकूद, व्यायाम, पालन-पोषण, स्वास्थ्य आदि कारक शारीरिक स्वास्थ्य का अत्यन्त महत्त्व है। शिक्षक तथा अभिभावक दोनों को ही बालक के शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

मानसिक विकास से तात्पर्य शक्तियों तथा संवेदनशीलता, अवलोकन, प्रत्ययीकरण, स्मृति, ध्यान, कल्पना, चिन्तन, बुद्धि, तर्क आदि में वृद्धि से होता है। शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में मानसिक विकास अत्यन्त तीव्र गति से होता है जबकि किशोरावस्था में मानसिक शक्तियों में गुणात्मक उन्नयन अधिक होता है। **पियाजे** तथा **ब्रूनर** ने संज्ञानात्मक विकास के अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। **पियाजे** के अनुसार संज्ञानात्मक विकास की दो अवस्थाएँ क्रमशः संवेदनात्मक गामक अवस्था तथा औपचारिक-संक्रियात्मक अवस्था हैं। **पियाजे** ने संगठन तथा अनुकूलन की योग्यताओं को संज्ञानात्मक कार्य विधि की दो प्रमुख विशेषता बताया है। **ब्रूनर** ने क्रियात्मक, प्रतिबिम्बात्मक तथा संकेतात्मक नामक तीन अवस्थायों में संज्ञानात्मक विकास को वर्गीकृत करके संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया है। मानसिक विकास को अनेक कारक जैसे वंशानुक्रम, वातावरण, स्वास्थ्य, शिक्षा समाज आदि सार्थक रूप से प्रभावित करते हैं।

संवेगात्मक विकास

संवेग व्यक्ति के आवेश को प्रदर्शित करते हैं। भय, क्रोध, घृणा, वात्सल्य, करुणा, आश्चर्य कुछ प्रमुख संवेग हैं। संवेगों का मानव-जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। धनात्मक संवेग व्यक्ति के व्यवहार को परिपूर्ण बनाते हैं। संवेग की स्थिति में विचार प्रक्रिया में शिथिलता आ जाती है। संवेग मूल प्रवृत्तियों से संबन्धित होते हैं। शैशवावस्था में संवेगात्मक व्यवहार प्रायः अस्थिर होता है जो बाल्यावस्था में स्थिरता की ओर अग्रसर होने लगता है। किशोरावस्था में संवेग प्रायः अधिक उग्र होते हैं। वंशानुक्रम, स्वास्थ्य, मानसिक योग्यता, पारिवारिक वातावरण आदि कारक संवेगात्मक विकास को प्रभावित करते हैं। शिक्षा के द्वारा संवेगों का परिमार्जन किया जा सकता है। अध्यापकगण तथा अभिभावकगण बालक-बालिकाओं के संवेगात्मक विकास को सही दिशा दे सकते हैं।

नैतिक विकास

नैतिक विकास से तात्पर्य नैतिक मानदंडों को अपने में समाहित करना है जिससे व्यक्ति नैतिक मूल्यों के अनुरूप आचरण कर सके। जीन पियाजे तथा कोहलबर्ग के द्वारा नैतिक विकास प्रक्रिया को कुछ स्तरों अथवा सोपानों में वर्गीकृत करके स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पियाजे ने नैतिक विकास के तीन स्तर क्रमशः नैतिक यर्थाथता, नैतिक समानता तथा नैतिक सापेक्षता बताई है जबकि कोहलबर्ग ने पूर्व परम्परागत स्तर, परम्परागत स्तर तथा उत्तर परम्परागत स्तर नामक तीन स्तरों में नैतिक विकास को बाँटा है।

कोहलबर्ग ने पूर्व परम्परागत स्तर को आत्मकेन्द्रित निर्णय, दंड व आज्ञापालन अभिमुखता तथा यान्त्रिक सापेक्षिक अभिमुखता नामक दो सोपानो मे एवं उत्तर परम्परागत स्तर को सामाजिक अनुबंध विधिसम्मत अभिमुखता तथा सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त अभिमुखता नामक दो सोपानो मे बाँटा है। नैतिक विकास के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति को नैतिक चिन्तन एवं उसके पीछे निहित तर्क भिन्न-भिन्न होते हैं। स्वास्थ्य, पारिवारिक स्थिति, समूह प्रभाव, धर्म प्रभाव, जनसंचार, मानसिक क्षमता जैसे विभिन्न कारकों से नैतिक विकास की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

सामाजिक विकास

सामाजिक विकास से तात्पर्य सामाजिक वातावरण के साथ अनुकूलन करने के लिए आवश्यक सामाजिक व्यवहार, मान्यताओं तथा परम्पराओं को अर्जित करने से है। सामाजिक अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति समाज के आदर्शों, मूल्यों तथा विश्वासों में आस्था रखना सीखता है एवं समाजहित में अपने निहित स्वार्थों को त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। शिक्षा के द्वारा बालक-बालिकाओं के समाजीकरण को वांछित दिशा तथा गति दी जा सकती है। विकास के अन्य पक्षों की तरह से सामाजिक विकास को भी तीन अवस्थाओं-शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता है। वंशानुक्रम, शारीरिक व मानसिक विकास का स्तर, संवेगात्मक परिपक्वता, परिवार का शैक्षिक, आर्थिक व सामाजिक स्तर, पड़ोस व समाज, विद्यालय तथा शिक्षक आदि बालक के सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। विद्यालयों में स्वस्थ सामाजिक अन्तर्क्रिया के अवसर उपलब्ध कराकर बालक बालिकाओं के सामाजिक विकास को द्रुत गति दी जा सकती है।

वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करने वाले कारक

वंशानुक्रम,	पौष्टिक भोजन,
शुद्ध हवा एवं प्रकाश,	लिंगभेद, बुद्धि,
अन्त:स्त्रावी ग्रन्थियाँ,	रोग तथा चोट,
परिवारिक परिस्थितियाँ,	संस्कृति।

प्रश्न 7—बाल विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर—

बाल विकास की अवस्थाएँ

लॉवटन (Lowton) ने विकास की अवस्थाओं की चर्चा करते हुए कहा है—"हमारे जीवन का विस्तार अनेक अंशों में विभक्त है और प्रत्येक अंश की समायोजन की समस्या है। आयु एवं काल का सम्बन्ध आरम्भिक कथाओं से नहीं है। यह तो समस्या को हल करने की एक प्रणाली है। जीवन भर व्यक्ति अपनी समस्याओं को हल करने की विधि तथा प्रविधि का आविष्कार करता है। इनमें कुछ विधियाँ उपयोगी होती हैं तो कुछ अनुपयोगी। ये एक अंश से दूसरे अंश पर आरोपित भी की जा सकती हैं और नहीं भी की जा सकतीं।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि विकास की प्रक्रिया तो एक है किन्तु उसका विभाजन अनेक अवस्थाओं में है।

व्यक्ति का विकास अनेक चरणों में पूरा होता है। विद्वानों में विकास की इस प्रक्रिया को लेकर अनेक मतभेद रहे हैं। हम यहाँ पर कुछ विद्वानों द्वारा किये गये विकास की अवस्थाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) सैले ने विकास प्रक्रिया का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है—

(a) शैशव (Infancy)—1 से 5 वर्ष तक

(b) बाल्यकाल (Childhood)—5 से 12 वर्ष तक

(c) किशोरावस्था (Adolescence)—12 से 18 वर्ष तक

(2) रॉस (Ross) ने अपने ढंग से विकास की अवस्थाएँ इस प्रकार बताई हैं—

(a) शैशव–1 से 3 वर्ष तक

(b) आरम्भिक बाल्यकाल–3 से 6 वर्ष तक

(c) उत्तर बाल्यकाल–6 से 12 वर्ष तक

(d) किशोरावस्था–12 से 18 वर्ष तक

(3) कॉलसनिक (Kalesnic) ने विकास प्रक्रिया का वर्गीकरण बहुत अधिक चरणों में किया है—

(a) गर्भाधान से जन्म तक–पूर्व जन्म काल (Prenatal Period)

(b) नवशैशव (Neonatal)—जन्म से 3 या 4 सप्ताह तक

(c) आरम्भिक शैशव (Early Infancy)—1 या 2 मास से 15 मास तक

(d) उत्तर शैशव (Late Infancy)—15 से 30 मास तक

(e) पूर्व बाल्यकाल (Early Childhood)—2.5 से 5 वर्ष तक

(f) मध्य बाल्यकाल (Middle Childhood)—9 से 12 वर्ष तक

(g) किशोरावस्था (Adolescence)—12 से 21 वर्ष तक

विद्वानों ने सामान्यत: इस वर्गीकरण को अपने अध्ययनों का आधार बनाया है। इस आधार पर हमने इस पुस्तक में उक्त प्रकरणों पर चर्चा की है।

(1) गर्भाधान (Prenatal) काल–गर्भाधान से 250 या 300 दिन तक

(a) भ्रूणिक (Germinal)—0 से 2 सप्ताह तक

(b) भ्रूणीय (Embroynic)—2 से 10 सप्ताह तक

(c) भ्रूण (Foetal)—10 सप्ताह से जन्म तक

(2) बाल्य काल (Childhood)—जन्म से 12 वर्ष तक

(a) शैशव (Infancy)—जन्म से 3 वर्ष तक

(b) पूर्व बाल्यकाल–3 से 6 वर्ष तक

(c) उत्तर बाल्यकाल–6 से 12 वर्ष तक

(3) किशोरावस्था–13 से 19 वर्ष तक

(4) परिपक्वावस्था (Adulthood)—20 वर्ष तथा ऊपर।

प्रश्न 8—बाल विकास के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—अनेक विद्वानों ने सिद्धान्तों का अध्ययन किया किन्तु इरिक एच० इरिक्सन (Erik H. Erikson), जीन पियाजे (Jean Piaget) तथा रॉबर्ट आर० सीयर्स (Robert R. Sears) का योगदान इस प्रवृत्ति तथा विद्या को विकसित करने में विशेष रहा है। इन तीनों विद्वानों ने विकास के पृथक्-पृथक् पहलुओं-संवेगात्मक, मानसिक तथा सामाजिक विकास के सन्दर्भ को समग्र रूप प्रदान करते हैं। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

(1) मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त—इस मत के प्रतिपादक इरिक एच० इरिक्सन हैं। इनका जन्म जर्मनी के फ्रैंकफर्ट क्षेत्र में डेनिस माता-पिता से 1902 ई० में हुआ था। पिता की मृत्यु शीघ्र हो जाने के कारण इनकी माता ने पुनर्विवाह किया और इनके सौतेले पिता ने इनको गोद ले लिया। इनका आरम्भ का नाम हॉमबर्गर था परन्तु बाद में इन्होंने अपना नाम बदल लिया। इरिक्सन ने अपनी धारणा का विकास फ्रॉयड के सिद्धान्तों पर किया। इरिक्सन अपनी बौद्धकता के प्रति इतना ईमानदार रहा है कि वह कहता है—"मैं किसी नये सिद्धान्त का विकास नहीं कर रहा हूँ।" इसका मत फ्रॉयड के मत से तीन रूपों में भिन्न है—

(i) इरिक्सन इड (Id) से इगो (Ego) तक के परिवर्तन पर बल देता है। इस धारणा का विकास फ्रॉयड प्रॉब्लम्स ऑफ एंक्जाइटी (Problems of Anxiety) में कर चुका है। इरिक्सन यह मानकर चलता है कि इड तथा इगो से ही पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता है।

(ii) इरिक्सन ने व्यक्ति को उसके परिवेश (Environment) में देखा है। यह परिवेश व्यक्ति, परिवार, समाज तथा संस्कृति का होता है। इससे सामाजिक गतिशीलता का विकास होता है।

(iii) इरिक्सन समय की माँग के प्रति सचेत रहा है। मनोवैज्ञानिक बाधाओं पर विजय प्राप्त करके ही व्यक्ति को विकास के अवसर प्राप्त होते हैं।

इरिक्सन द्वारा प्रतिपादित विकास के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों का सार यह है—

(अ) यह सिद्धान्त सम्पूर्णता तथा सगठन पर बल देता है।

(ब) मानव-जीवन मे विकास का क्रम होता है।

(स) वह आधारभूत मानव मूल्यों में विश्वास करता है।

(द) मानव-व्यवहार का संचालन करने वाले तत्त्वों; यथा-शक्ति, चालक, काम-प्रवृत्ति (Libido) के अस्तित्व पर विश्वास करता है।

(य) वह फ्रॉयड के इस मत का पूर्ण रूप से समर्थक है कि मानवीय कार्यों से जीवन के अनेक पक्षों का विकास होता है।

(र) मानव-विकास के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक वातावरण का निर्माण अनिवार्य है।

इरिक्सन का योगदान बाल विकास के क्षेत्र में नयी धारणाओं तथा मान्यताओं को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण रहा है। **हैनरी डब्ल्यू० मेयर** (Henary W. Maier) के अनुसार—"फ्रॉयड के बाद अनुसन्धानकर्तता सृजनात्मक चिन्तक तथा लेखक के रूप में इरिक्सन ने सम्पूर्ण परिवेश के सन्दर्भ में व्यक्ति का अध्ययन किया है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के क्षेत्र में उसने महान् कार्य किया है। उसने व्यक्ति को वातावरण के सन्दर्भ में आन्तरिक शक्तियों का उपयोगकर्त्ता माना है।"

(2) संज्ञानात्मक (Cognitive) **सिद्धान्त**—इस मत के प्रतिपादक जीन पियाजे (Jean Piaget) का जन्म 1896 ई० में न्यूचैटल (Neuchatal) में हुआ था। इनके अपने विकास पर पागल माँ और बुद्धिमान पिता का प्रभाव पड़ा। पियाजे के विचारों पर प्राकृतिक विज्ञानों के साथ-साथ दर्शन तथा मनोविज्ञान का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

पियाजे का मत एक-पक्षीय (One-Dimensional) है। यह मानव-व्यवहार पर अधिक बल देता है। उसने वपने अध्ययन का आधार जीवशास्त्र (Biology) को बनाया। उसके अध्ययन का आरम्भ सर्वेक्षण तथा अनुसन्धान है। उसने विभिन्न प्रकार के प्राणियों का सर्वेक्षण करके आधारभूत सूचनाएँ एकत्र कीं। उसने इस आधार पर सार्वभौमिक नियम (Cosmos order) के दर्शन किए। विकास क्रम विश्व भर में एकसा होता है और वह प्राकृतिक है अलग-अलग प्राणियों में यह पृथक्-पृथक् रूप से पाया जाता है। उसने व्यक्तित्व के विकास में चेतन (Conciousness), अचेतन (Unconsciousness), पहचान (Identification), खेल (Play), संवेग (Emotion) आदि का योग बताया। उसके विचार में व्यक्ति परिवेश में विकसित आवश्यकताओं को पूर्ण करने की प्रक्रिया से ही विकास-पथ पर बढ़ता है।

पियाजे के मत का सार इस प्रकार है—

(i) सभी विकास एक दिशा में होते हैं।

(ii) विकास के सभी पक्ष मानसिक स्तरों पर पाये जाते हैं।

(iii) बालक तथा प्रौढ़ के व्यवहार में अन्तर आता है।

(iv) सभी प्रकार के परिपक्व व्यवहारों का मूल शैशवास्था के व्यवहार में है।

पियोजे ने विकास के सिद्धान्त को **इन्द्रियगति** (Sensor Motor), **संज्ञान की आरम्भिक अवस्था संज्ञानावस्था** में बाँटा है। आरम्भ के 24 मान में इन्द्रिय गति का विकास होता है। इसके बाद संज्ञानात्मक विकास होता चलता है। इसी में चिन्तन, तर्क तथा कल्पना का विकास होता है। पियाजे द्वारा प्रतिपादित विकास की दर इतनी क्रमबद्ध है कि उसने अनेक नवीन धाराणाओं को विकसित किया है।

(अ) विकास के सभी पक्ष समान क्रम में आगे बढ़ते हैं।

(ब) विकास की जटिल प्रक्रिया में विकास प्राकृतिक एवं स्वाभाविक रूप से बढ़ता है।

(स) हर प्रकार का विकास शुद्ध सामान्य समस्या से आरम्भ होता है।

(द) पहले शारीरिक, फिर सामाजिक तथा वैचारिक विकास होता है।

(य) व्यक्तित्त्व के विकास में अहं (Ego) का योग प्रमुख रहता है।

(र) बौद्धिक व्यवहार सक्रिय तथा निष्क्रिय रूप से विकसित होता है।

(ल) विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है।

(व) नैतिकता, न्याय एवं अवबोध का विकास सामाजिक पारस्परिकता से अधिक होता है।

(श) विकास के समय पूर्व अवस्था में प्राप्त गुण एव विशेषताएँ उम्र भर साथ रहती हैं।

हेनरी डब्ल्यू० मेयर ने ठीक ही कहा है—"पियाजे की विकासात्मक प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की क्षमता का वर्णन करती हैं। इससे हम व्यक्ति को दिशा, अवबोध के विस्तार आदि की घोषणा विकास के मध्य कर सकते हैं।"

3. अधिगम (Learning) सिद्धान्त—विकास के अधिगम सिद्धान्त का प्रतिपादन रॉबर्ट रिचर्डसन सीयर्स (Robert Richardson Sears) ने किया है। इनका जन्म 1908 में पालो अल्टो कैलीफोर्निया में हुआ था। इनकी विशेष रुचि बालक के अधिगम की प्रक्रिया में थी। इनके विचारों पर क्लार्क हल (Clark Hull) का प्रभाव था। इनके द्वारा प्रतिपादित विचारों में व्यवहारवाद तथा मनोविश्लेषणवाद, दोनों का समन्वय पाया जाता है।

अधिगम सिद्धान्त बालक की आधारभूत आवश्यकताओं तथा उनके आधार पर सीखने की क्षमता के विकास पर बल देता है। आवश्यकताएँ उन चालकों को जन्म देती हैं, जो व्यक्ति को किसी क्रिया के सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। बालक स्तन चूस सकता है, वस्तु पकड़ता है, खाता है, पीता है, इन सभी क्रियाओं के मूल में उनकी आवश्यकताएँ निहित होती हैं। सीयर्स का मत व्याख्यात्मक है। यह ऐसे विकास की ओर संकेत करता है जो अछूते रहे हैं। बालक के विकास के सम्बन्ध में उसका मत है।

(i) विकास के साथ-साथ बालक के सीखने तथा कार्य करने की गति में भी, परिवर्तन होता रहता है।

(ii) बालक में जिज्ञासा तथा इच्छा सामाजिक सम्पर्क के कारण उत्पन्न होती है।

बालक का शारीरिक तथा सामाजिक विकास उसके वातावरण पर निर्भर करता है। पूर्व व्यवहार के श्रम पर ही विकास की गति निर्भर करती है। समाजीकरण की प्रक्रिया भी इसी आधार पर होती है। माता-पिता की भूमिका इस प्रक्रिया में अत्यन्त जटिल हो जाती है। सीयर्स बाल-विकास की प्रक्रिया में सामाजिक आर्थिक कारकों पर बल नहीं देता। इसलिए वह कहता है—बालक का पोषण एक सतत क्रिया है। वह प्रत्येक क्षण, जो बालक अपने माता-पिता के साथ व्यतीत करता है, उसके भावी व्यवहार की ओर संकेत करता है। बालक का विकास क्रमबद्ध प्रक्रिया है। वह जीवन की दशाओं के अनुरूप नवीन व्यवहार को ग्रहण करता है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि बालक का विकास बालक के व्यवहार की पूर्णता है। बालक जैसा व्यवहार करता है, उसका वैसा ही विकास होता है।

4. विकास की दिशा का सिद्धान्त (Principle of Development Direction)—यह सिद्धान्त विकास की एक दिशा को निश्चित करता है। शिशु का शारीरिक विकास सिर से पैरों की ओर होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस विकास को मस्तकोधोमुखी (Cephanlocandal) विकास कहा है। अत: हम कह सकते हैं कि शिशु के सिर का विकास, फिर धड़ का विकास और उनके बाद हाथ एवं पैरों का विकास होता है।

5. परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त (Principle of Inter-relation)—शिशु के विकास में परस्पर सम्बन्ध होता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है कि शिशु में सभी प्रकार के विकास साथ-साथ चलते हैं। उनके गुणों में अन्तर न होकर मात्रा में अन्तर होता है। जब बालक की शारीरिक क्रियाओं में विकास होता है तो जब बालक की शारीरिक क्रियाओं में विकास होता है तो उसकी बौद्धिक, भाषा एवं संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में भी अन्तर स्पष्ट होता है। अत: शिशु का विकास शारीरिक अंगों एवं विकास के विभिन्न स्तरों में सामंजस्य एवं सम्बन्ध स्थापित करता है।

6. सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं का सिद्धान्त (Principle of General to Specific Reactions)—शिशु की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ सामान्य से प्रारम्भ होकर विशिष्ट की ओर जाती रहती हैं। बालक प्रारम्भ में सम्पूर्ण शरीर को हिलाता-डुलाता है, बाद में हाथ-पैरों को। फिर हाथ की अँगुलियों को चलाता है और बाद में एक-एक अँगुली का संचालन करता है और बाद में वह संवेगों का प्रकटीकरण करना भी सीख लेता है। **हरलॉक** महोदय का कथन है—"विकास के सभी स्तरों पर बालक की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट बनने से पूर्व सामान्य प्रकार की होती हैं।"

7. समान प्रतिमान का सिद्धान्त (Principle of Uniform Pattern)—विद्वानों का मत है कि समान प्रजाति में विकास की गति समान प्रतिमानों से प्रचलित होती है। मनुष्य चाहे जापान में पैदा हो या भारत में उसका शारीरिक, मानसिक, भाषा एवं संवेगात्मक विकास समान रूप से होता है। **हरलॉक** के अनुसार—"प्रत्येक जाति, चाहे वह पशु जाति हो या मानव जाति के अनुरूप विकास के प्रतिमान का अनुसरण करती है।"

8. वंशानुक्रम तथा वातावरण की अन्त:क्रिया का सिद्धान्त (Principle of Interaction of Heredity and Environment)—शिशु की क्षमताएँ वंशानुक्रम से और उनका विकास वातावरण से निश्चित होता है। अत: शिशु का भावी विकास उसके वंशानुक्रम और वातावरण की अन्त:क्रिया पर निर्भर करता है। इससे आगे शिशु का विकास नहीं किया जा सकता है, जैसा कि **स्किनर** महोदय ने लिखा है—"यह सिद्ध किया जा चुका है कि वंशानुक्रम उन सीमाओं को निश्चित करता है, जिनके पर्यन्त शिशु का विकास नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित हो चुका है कि जीवन में प्रारम्भिक वर्षों में दूषित वातावरण, कुपोषण तथा गम्भीर रोग योग्यताओं को कुंठित या निर्बल बना देते हैं।"

प्रश्न 9–विकास की सामान्य एवं विशिष्ट विशेषताओं का वर्णन कीजिए तथा विकास के रूप (स्वरूप) को समझाइये।

विकास की सामान्य विशेषताएँ

उत्तर—

जब हम किसी भी व्यक्ति के विकास की चर्चा करते हैं तो हमारा आशय उसकी कार्यक्षमता, परिपक्वता तथा शक्ति ग्रहण करने से होता है। इसलिए विकास के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार करते समय हमें इन सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना होगा।

1. परिपक्वता (Maturation) **का सिद्धान्त**—जब व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों एवं वातावरण के प्रति कुशलतापूर्वक प्रतिक्रिया करता है, तब हम यह मान लेते हैं कि वह किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं को करने में सक्षम अथवा परिपक्व हो गया है। परिपक्वता में सामान्यत: स्थायित्व आ जाता है। यह स्थायित्व कद, व्यक्तित्त्व निष्पत्ति आदि में होता है जिसका प्रभाव अन्तत: बालक के सीखने की क्षमता पर पड़ता है। परिपक्वता एवं सीखना या अधिगम, विकास के दो पहलू हैं। ये एक-दूसरे से इतने जुड़े हैं कि इनको अलग नहीं किया जा सकता। परिपक्वता की क्षमता पर वंशक्रम तथा वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है।

2. मूल-प्रवृत्यात्मक अभिगमन (The Instinct Approach)—विकास के सन्दर्भ में **मैक्डूगल** (McDougall) ने मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार का विश्लेषण किया है। मैक्डूगल ने नारियों में मातृत्व मूल-प्रवृत्ति (Maternal instinct) बताई और इस बात पर बल दिया कि उनका विकास इस मूल प्रवृत्ति के आधार पर होता है। यदि मूल प्रवृत्ति का प्रयोग केवल जटिल व्यवहारों के प्रतिमानों के लिए होता है और ये प्रतिमान विकास को प्रभावित करते हैं तो हम यह मान सकते हैं कि इसके अभाव में सीखने की क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। **क्लार्क एवं बीर्च** (Clark and Birch) ने नर चिम्पैंजी के शरीर में स्त्री-हॉर्मोन (Female hermones) प्रवेश कराये और इसके परिणामस्वरूप उसमें आज्ञापालन तथा सामाजिक प्रभुत्व के गुण आ गए। इसका कारण यह है कि मनुष्य का व्यवहार किन्हीं ग्रन्थियों (Glands) के विकास तथा उनकी रासायनिक क्रिया से प्रभावित होता है।

3. सहज क्रिया अभिगमन (The Reflex Approach)—**वाटसन** का कहना है कि सभी बालक जन्म के समय समान होते हैं। उनकी निश्चित शारीरिक रचना होती हैं, उनमें कुछ सहज क्रियाएँ होती हैं एवं तीन संवेग (Emotions) होते हैं—**प्रेम, भय** और **क्रोध**। इनके अतिरिक्त कुछ अविग्रहणात्मक (Manipulative) प्रवृत्तियाँ होती हैं। वातावरण के अनुसार बालक इनका प्रयोग करता है और वहाँ उनकी अनुक्रिया होती है। यह सहज क्रिया ही बालक के विकास की ओर संकेत करती है।

विकास की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ

1. सामान्य से विशिष्ट की ओर (General to Specific)—इस सिद्धान्त के अनुसार बालक का विकास सामान्य परिस्थिति से होता है। धीरे-धीरे यह विकास विशिष्ट स्थिति की ओर होता है। आरम्भ में बालक पूरे हाथ का संचालन करता है। धीरे-धीरे वह अँगुलियों पर भी नियन्त्रण कर लेता है। इसी प्रकार सम्बन्धों का विकास होता है। आरम्भ में वह केवल उत्तेजना अनुभव करता है। कालान्तर में वह संवेगों की अभिव्यक्ति करना भी सीख लेता है। भाषा का विकास भी क्रन्दन से आरम्भ होता है। निरर्थक-सार्थक शब्दों से वह वाक्यों के विकास तक पहुँचता है।

2. मस्तकोधमुखी (Cephaulocandal) **सिद्धान्त**—इस मत के अनुयायियों का कथन है कि विकास की क्रिया का आरम्भ सिर से होता है। भ्रूणावस्था में भी पहले सिर का ही विकास होता है। सिर के पश्चात् धड़ एवं टाँगों आदि का विकास होता है। जन्म

के पश्चात् भी पहले बालक अपने सिर को इधर-उधर घुमाता है तथा उसे ऊपर उठाने का प्रयत्न करता है। बैठने तथा चलने की प्रक्रिया वह बाद में करता है। यह सिद्धान्त शारीरिक विकास की प्रक्रिया पर आधारित है।

3. निकट-दूर (Proximodigital) **सिद्धान्त**—इस मत के मानने वालों का कहना है कि विकास का केन्द्र-विन्दु स्नायुमण्डल होता है। पहले स्नायुमण्डल का विकास होता है, इसके पश्चात् स्नायुमण्डल के निकट के भागों का विकास होता है। जैसे हृदय, छाती, कुहनी आदि। इसके पश्चात् अँगुलियों आदि का विकास होता है।

4. संगठित प्रक्रिया (Unifield Process)—बालक के विकास से अभिप्राय केवल शारीरिक विकास से नहीं है। शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक विकास भी होने से व्यक्तित्त्व में पूर्णता आती है। इसीलिए **ओलसन एवं ह्यूज** (Olson and Hughes) ने आवयविक (Organistic) आयु का विचार विकसित किया है। इस विचार के अनुसार शारीरिक दृष्टि से कोई बालक 8 वर्ष का है तो वह मानसिक दृष्टि से 12 वर्ष का हो सकता है। संवेगात्मक दृष्टि से वह 14 वर्ष का हो सकता है। अत: विकास को आयु की किसी एक सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। वह तो संगठित प्रक्रिया है।

5. भिन्नता (Vairation) **का सिद्धान्त**—विकास की गति समान नहीं होती। यह गति जीवन भर चलती रहती है परन्तु इसके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। विकास की गति शैशव में तीव्र होती है। बाल्यावस्था में गति धीमी होती है और किशोरावस्था में यह तीव्र होती हुई पूर्णता प्राप्त करती है। लड़कों तथा लड़कियों का विकास भी समान ढंग से नहीं होता। उसमें भी भिन्नता पाई जाती है।

6. अनवरत (Continuous) **प्रक्रिया**—विकास की प्रक्रिया गर्भाधान से मृत्यु-पर्यन्त तक चलती रहती है। सच यह है कि यह अनवरत प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक प्राणी को गुजरना पड़ता है। व्यवहार का आधार प्रतिक्षण बदलता रहता है और व्यवहार परिवर्तन से ही विकास की गति की पहचान की जाती है।

7. विकास प्रक्रिया के समान प्रतिमान (Uniform Pattern)—इस मत के मानने वालो का कथन है कि समान प्रजाति (Race) में विकास की गति समान प्रतिमानों से प्रवाहित होती है। मनुष्य चाहे अमेरिका में पैदा हुआ हो या भारत में, उसका शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक भाषा आदि का विकास अन्य व्यक्तियों के समान होता है।

विकास का रूप (स्वरूप)

विकास के सामान्य तथा विशेष सिद्धान्तों का अध्ययन करने से एक प्रमुख बात स्पष्ट होती है; वह है—विकास की प्रक्रिया अपनी कुछ विशेषताओं को लेकर आगे बढ़ती है। इससे हमें यह ज्ञात होता है (i) प्रत्येक बालक से उसकी विकास की अवस्था पर क्या सम्भावना हो सकती है, (ii) विकास की इन अवस्थाओं पर व्यवहार का कौन-सा रूप विकसित होता है, (iii) बालक की आयु, कद, भार एवं मानसिक विकास के अनुसार उसके लिए मार्ग-प्रदर्शन की संम्भावनाओं का विकास कर सकते हैं।

PAPAR-II

पूर्व प्राथमिक शिक्षा की अवधारणा

[CONCEPT OF PRE PRIMARY EDUCATION]

प्रश्न 1—शिक्षा किसे कहते हैं ? शिक्षा का अर्थ बताते हुए इसकी प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।

उत्तर–

शिक्षा का अर्थ

उपरोक्त परिभाषाओं से दो तथ्य प्रकट होते हैं—(1) शिक्षा की प्रक्रिया निरन्तर गति से जीवन-पर्यन्त चलती रहती है और मानव हर समय, हर क्षण, हर किसी से कुछ न कुछ सीखता रहता है। (2) शिक्षा का उद्देश्य केवल विद्यालय में कतिपय व्यवहार का प्रशिक्षण प्राप्त करना है। अत: इन दोनों विश्लेषणों से शिक्षा के दो अर्थ स्पष्ट होते हैं, एक है संकुचित अर्थ और दूसरा विस्तृत अर्थ है। शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करने से पूर्व यह आवश्यक है कि शिक्षा शब्द पर विचार किया जाये।

शिक्षा शब्द लैटिन भाषा के एडूकेटम (Educatum) शब्द से निर्मित है। इसका अर्थ है शिक्षण का कार्य (Function of teaching)। इसी के समानान्तर एक शब्द और है एडुकेअर (Educare) और इसका अर्थ है, शिक्षित करना (To educate)। उठाना (To bring up), प्रगति करना (To raise), सामने लाना (To bring forth) एवं नेतृत्व देना (To lead out), ये सभी शिक्षा की क्रिया एवं कार्य की ओर संकेत करते हैं। **एडम्स** (Adams) एवं **रॉस** (Ross) इसी कारण इस शब्द को मान्यता देते हैं—"एजूकेशन, शब्द किसी प्रकार से एक अर्थ नहीं देता प्रत्युत यह शिक्षा को प्रक्रिया मानकर चलता है। इसी स्थिति में शिक्षा के दो अर्थ लिये जाते हैं—विस्तृत एवं संकीर्ण।"

शिक्षा की परिभाषायें (Definitions of Education)

शिक्षा के विषय को प्राचीन काल से ही विद्वान् स्पष्ट कहते रहे हैं। यहाँ पर कुछ परिभाषायें प्रस्तुत हैं, जिनसे शिक्षा की विषय-स्थिति का पता चलता है—

1. **प्लेटो**–"शिक्षा से मेरा तात्पर्य उस प्रशिक्षण से है, जो अच्छी आदतों द्वारा बच्चों में अच्छी नैतिकता का विकास करे।"
2. **अरिस्टोटल**–"शिक्षा स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण करती है।"
3. **काण्ट**–"शिक्षा व्यक्ति का वह सम्पूर्ण विकास है, जिसके लिये वह पात्र है।"
4. **पेस्टॉलॉजी**–"मानव शक्तियों का प्राकृतिक, निरन्तर एवं प्रगतिशील विकास ही शिक्षा है।"
5. **गाँधी जी**–"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक एवं मनुष्य के सर्वांगीण विकास शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा से है।"

इन सभी परिभाषाओं पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होने के कारण भिन्नता पाई जाती है। इन परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि (1) प्रत्येक शिक्षा शास्त्री ने अपने दृष्टिकोण से शिक्षा को प्रभावित किया है। (2) प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के जीवन-दर्शन में भिन्नता के कारण शिक्षा की परिभाषा में भिन्नता पाई जाती है। (3) शिक्षा की परिभाषायें प्राय: एकांगी हैं।

इस एकांगीपन को दूर करने का प्रयास करते हुए **टी० रेमण्ट ने** ठीक ही कहा है—"शिक्षा उस विकास का नाम है, जो शैशवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक होता ही रहता है अर्थात् शिक्षा वह क्रम है, जिससे मानव अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।"

शिक्षा एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो बालक की समाज में रहने तथा विकास की क्षमता की वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण योग देती है। शिशु में अनेक महत्त्वपूर्ण गुण होते हैं। वे गुण शिक्षा के माध्यम से ही विकसित होते हैं। कुल मिलाकर व्यक्ति को एक सम्पूर्ण व्यक्ति बनने में योग देते हैं।

शिक्षा की प्रक्रिया (Process of Education)

विद्वानो ने शिक्षा को एक प्रक्रिया माना है। यह जीवन-पर्यन्त चलते रहने वाली प्रक्रिया है, जिसका आदि उस समय होता है जब बालक गर्भ मे स्थित होता है और अन्त तब होता है जब वह मर जाता है। परन्तु संकुचित अथवा औपचारिक (Formal) अर्थो मे **एडम्स** (Adams) ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया बताया। उसके अनुसार—**'शिक्षा द्विमुखी प्रक्रिया है।'** (Education is a bi-polar process.—***Adams.***)

रॉस (Ross) ने भी **एडम्स** का समर्थन किया है और कहा है—**''चुम्बक की तरह शिक्षा के भी दो ध्रुव होने चाहियें। यह द्विमुखी प्रक्रिया है।''**

इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षा की इस प्रक्रिया में शिक्षक तथा शिष्य को एक-दूसरे की पूरी जानकारी होनी चाहिये। शिक्षा मे सदैव चेतना की आवश्यकता होती है। इसीलिये केवल शिक्षक को ही शिक्षा की प्रक्रिया नहीं मान सकते, परन्तु इस विचार को आगे बढ़ाने वाले **जॉन डीवी** (John Dewey) ने शिक्षा को त्रिमुखी (Tri-polar) प्रक्रिया बताया है। **डीवी** के अनुसार—**''शिक्षा में शिक्षक तथा शिष्य के साथ-साथ सामाजिक शक्तियों को भी शिक्षा की तीसरी प्रक्रिया माना है। अत: सामाजिक शक्तियों के रूप में शिक्षक तथा शिष्य के मध्य पाठ्यक्रम आ जाता है, तब तक शिक्षक एवं शिष्य, दोनों ही व्यर्थ बैठे रहेंगे।''**

अत: शिक्षा की प्रक्रिया में त्रिमुखी प्रक्रिया को अधिक बल दिया जाता हैं और यह शिक्षाशास्त्रियों द्वारा मान्य भी है। शिक्षा की प्रक्रिया का अर्थ है—बालक के विकास की प्रक्रिया का सम्पन्न होना, शिक्षा बालक की क्षमताओं को विकसित करती है। इसीलिये, इसे एक सचेतन प्रक्रिया कहा गया है। यह सचेतन प्रक्रिया जीवन-पर्यन्त चलती रहती है। यह गत्यात्मक (Dynamic) है। इसमें परिवर्तनशीलता पाई जाती है। देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। ➤

प्रश्न 2—शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या कीजिए तथा उसके आधुनिक रूप पर विचार कीजिए।

उत्तर–

शिक्षा का स्वरूप

यह जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है और बालक जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सीखता रहता है। इस सम्बन्ध में अमेरिका में **सेकेण्ड्री एजूकेशन कमीशन रिपोर्ट** में कहा गया है—''शिक्षा का उद्देश्य हर व्यक्ति में ज्ञान, रुचि, आदर्श, आदत एवं शक्तियों का विकास करना है, जिससे वह उचित स्थान बना सके और उसका उपयोग वह स्वयं और समाज के आदर्श उद्देश्यों के लिये कर सके।''

इस प्रकार **जेम्स** ने भी कहा है कि—''शिक्षा, उन कार्यों तथा आदतों का संगठन है, जो किसी व्यक्ति को उसके भौतिक तथा सामाजिक वातावरण में स्थान दिलाते हैं।'' **रेमण्ट** ने भी शिक्षा को जीवन-भर की प्रक्रिया माना है तथा उसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं—''शिक्षा को विकास की प्रक्रिया के रूप में पारिभाषित किया गया है। इससे मानव विभिन्न तरीकों से अपने भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक वातावरण में अनुकूलन करता है।''

इन सभी विचारों से एक बात यह स्पष्ट होती है कि शिक्षा के दो स्वरूप हैं। एक स्वरूप अनादि है। वह सदैव समाज में एक प्रक्रिया में निहित रहेगा और दूसरा स्वरूप औपचारिक है। इन्हीं स्वरूपों को शिक्षाशास्त्री विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं, परन्तु शिक्षा का मूल एक ही है। विद्वानो ने शिक्षा के चार स्वरूपों का वर्णन किया है—

1. नियमित तथा अनियमित शिक्षा (Formal and Informal Education)

शिक्षा के इस स्वरूप में नियमित शिक्षा में विद्यालय की शिक्षा पर ही विचार किया जाता है। इसे औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा भी कहते हैं। नियमित शिक्षा के अन्तर्गत पूर्व योजनानुसार कार्य होता है। बालक को निश्चित स्थान, निश्चित समय पर, निश्चित विषय की शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षा, शिक्षा न होकर निर्देश है।

अनियमित (Informal) शिक्षा का आरम्भ गर्भ-काल से ही हो जाता है। उदर-स्थित बालक के पूर्ण विकास से लेकर समाज में उचित स्थान प्राप्त करने तक यह क्रम चलता रहता है। पूर्व योजनानुसार इस अनियमित शिक्षा का पता नही चलता। व्यक्ति हर समय हर किसी से कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। नियमित एवं अनियमित शिक्षा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भाटिया ने कहा है—''शिक्षा निर्देश से अधिक श्रेष्ठ एवं उत्तम है। निर्देश का ज्ञान प्रदान करने या किसी उपयोगी कौशल को सीखने तक सीमित है। शिक्षा का क्षेत्र इससे विशाल है, यद्यपि ज्ञान का स्थान इससे भी महत्त्वपूर्ण है।'' अत: शिक्षा के दोनों स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट है और शिक्षा के अनियमित रूप को आदर्श बताया है।

2. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शिक्षा (Direct and Indirect Education)

प्रत्यक्ष शिक्षा से तात्पर्य उन निर्देशों (Instructions) से है, जो बालक को कक्षा में अध्यापक द्वारा किये जाते हैं। अध्यापक अपने ज्ञान को छात्रो को देता है और उसके व्यावहारिक पहलू पर भी अपने विचार प्रकट करता है। अप्रत्यक्ष शिक्षा में अध्यापक का योगदान प्रत्यक्ष नही होता। वह केवल वातावरण का निर्माण करता है और छात्र उस वातावरण के प्रति प्रतिक्रियायें करते है। छात्र अपने समूह, परिवार, समुदाय तथा खेल के समूह से अनेक प्रकार के गुण-अवगुण सीखते है। इसीलिये **रॉबर्टसन** का विचार है—"निर्देश कक्षा मे ही समाप्त हो जाता है और शिक्षा जीवन के साथ समाप्त होती है।" अत: शिक्षा का रूप प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, दोनो रूपों में व्यक्ति को प्रभावित करता है।

3. वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षा (Individual and Collective Education)

वैयक्तिक शिक्षा से तात्पर्य एक बालक की शिक्षा से है। प्राचीन काल में राज-दरबारो मे राजा लोग अपने पुत्रो को शिक्षा वैयक्तिक रूप से कराते थे। आज भी ट्यूशन परम्परा इसी का प्रतीक है। शिक्षक एक बालक को शिक्षा देते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि उसकी रुचियों, आदतों, प्रकृति एवं योग्यता का पूरा-पूरा विकास हो। सामूहिक शिक्षा से तात्पर्य कक्षा-प्रणाली से है, इसके अन्तर्गत एक आयु, समूह, योग्यता एवं रुचि वाले बालकों को समान रूप से समान विषयों एवं व्यवहारों मे शिक्षण दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार की वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षा औपचारिक (Formal) शिक्षा का दूसरा रूप है। शायद इसलिये प्रोफेसर **जे० एस० मैकेंजी** ने संकुचित शिक्षा को मानव-शक्तियों के विकास हेतु चेतनायुक्त प्रयास बताया है। शिक्षा से ऐसी आशा की जाती है कि यह समाज के लिये बालक को उपयोगी बनाये। इसीलिये शिक्षा चाहे वैयक्तिक हो अथवा सामूहिक, शिक्षा का उद्देश्य बालक को समायोजन के योग्य बनाना है।

4. सामान्य एवं विशिष्ट शिक्षा (General and Specific Education)

सामान्य शिक्षा को उदार शिक्षा भी कहा जाता है। इस शिक्षा का उद्देश्य बालकों में सामान्य वृत्तियों, अभिवृत्तियों, रुचियों का विकास करना है। इस प्रकार की शिक्षा में बालकों की मनोवृत्तियों को विकसित किया जाता है। इस शिक्षा का कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता। यह तो केवल बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में विद्यमान गुणों का सर्वश्रेष्ठ विकास करने की ओर उन्मुख है।

जहाँ तक विशिष्ट शिक्षा का प्रश्न है, इसमें बालक को किसी स्थिति में विशिष्ट प्रकार का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होती है। बालक को डॉक्टर, इन्जीनियर, अध्यापक एवं अन्य प्रकार के व्यवसायों का प्रशिक्षण इसी के अन्तर्गत आता है।

सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार की शिक्षा नियमित शिक्षा का ही परिवर्तित रूप है। शिक्षा के इन रूपों पर विचार करने के उपरान्त हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

1. शिक्षा, मानव-विकास का माध्यम है–प्लेटो के अनुसार—**"शिक्षा, छात्र के शरीर और आत्मा में उस सब सौन्दर्य और पूर्णता का विकास करती है, जिसके लिये वह है।"** शिक्षा व्यक्ति का विकास करती है। उसकी आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों का निर्माण करती है।

2. शिक्षा व्यवहारों को प्रशिक्षण देती है–शिक्षा के दोनों रूप मानव-व्यवहारों का प्रशिक्षण देकर समाज के अनुकूल बना देते हैं। वास्तविकता यह है कि जीवन के सभी अंगों का विकास शरीर, मस्तिष्क तथा आत्म-शिक्षा के द्वारा होता है।

3. शिक्षा, जीवन का मार्ग निर्देशित करती है–शिक्षा के द्वारा ही बालक अध्यापक एवं वातावरण में अपने जीवन के भावी रूप का निश्चय कर लेते हैं। शिक्षा उन्हें आवश्यक निर्देशन देकर राह पर लगाती है।

4. शिक्षा बालक की अभिवृद्धि करती है–बालक में उसकी शारीरिक एवं मानसिक अभिवृद्धि शिक्षा के द्वारा ही होती है। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने चरित्र के प्रशिक्षण, व्यवहार तथा व्यावहारिक कुशलता में वृद्धि एवं साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक रुचियों के विकास के द्वारा ही यह अभिवृद्धि अपेक्षित बताई है।

अत: शिक्षा का स्वरूप चाहे जैसा हो, शिक्षा का उद्देश्य बालक के सम्पूर्ण विकास से है। यह सम्पूर्णता जीवन को व्यवस्थित करती है और ऐसी सम्पूर्णता केवल शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

प्रश्न 3—शिक्षा के कौन-कौन से कार्य हैं ? शिक्षा के सामान्य कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

शिक्षा के कार्य

'शिक्षा' शब्द संस्कृत की **शिक्ष्** धातु से बना है। इसका अर्थ है—सीखना। संस्कृत में शिक्षा दो अर्थ मे प्रयुक्त की जाती है—सीखना तथा सिखाना। शिक्षा तथा विद्या, दोनो को शिक्षा के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। शिक्षा का क्या काम है ? क्या वह बालक को लिखने, पढ़ने तथा गिनने तक की योग्यता तथा क्षमता को विकसित करने तक सीमित है ? सामान्य व्यक्ति शिक्षा का अर्थ इतना ही समझता है। समाज तथा राष्ट्र के सन्दर्भ में शिक्षा की भूमिका व्यापक हो जाती है। **एल० एल० जेक्स** के अनुसार—"शिक्षा का कार्य बालक को इस योग्य बनाना है कि वह स्वयं के लिये चिन्तन कर सके, अच्छा मित्र बन सके एवं जीवन का आनन्द उठा सके।" '**डेनियल वैबस्टर** की धारणा है—"शिक्षा का कार्य भावनाओं को अनुशासित, आवेगों को नियन्त्रित, प्रेरणाओं को उत्तेजित तथा आध्यात्मिकता को विकसित करना है।" **जॉन डीवी** के अनुसार—"शिक्षा असहाय प्राणी के विकास में सहायता पहुँचाती है, जिससे वह सुखी, नैतिक तथा कुशल मानव बन सके।"

शिक्षा सम्पूर्ण मानव-जीवन की रचनात्मक प्रक्रिया का नाम है। **जवाहरलाल नेहरू** के शब्दों में—"शिक्षा से यह आशा की जाती है कि यह सन्तुलित मानव का विकास करे, बालकों को समाज के लिये लाभप्रद कार्यों को करने और सामूहिक जीवन में भाग लेने के लिये तैयार करे।"

इस विश्लेषण से शिक्षा के दो प्रकार के कार्यों का पता चलता है—

1. शिक्षा के सामान्य कार्य।
2. शिक्षा के मानव जीवन में कार्य।

अत: हम शिक्षा के दोनों प्रकार कार्यों का वर्णन करते हैं।

शिक्षा के सामान्य कार्य
(General Functions of Education)

शिक्षा के सामान्य कार्य निम्नलिखित हैं—

1. जन्मजात शक्तियों का विकास–पेस्टॉलॉजी के अनुसार—"शिक्षा, मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, सामंजस्यपूर्ण और प्रगतिशील विकास है। शिक्षा, प्रेम, जिज्ञासा, तर्क, कल्पना, आत्मसम्मान आदि के गुणों के द्वारा बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करती है।"

2. सन्तुलित व्यक्तियों का निर्माण करना–शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण करना है। सन्तुलित व्यक्तित्व से तात्पर्य व्यक्ति के शारीरिक एवं बौद्धिक विकास से है। शिक्षा द्वारा यह कार्य हो सकता है।

3. मूल प्रवृत्तियों का प्रशिक्षण–बालक का शारीरिक विकास मूल प्रवृत्तियों के गतिशील होने पर होता है। इन मूल प्रवृत्तियों से जिज्ञासा, आत्म-प्रदर्शन और सामूहिक जीवन जैसी सहजरूप क्रियाओं के स्तर का विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही मूल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण होता है और उसका पुनर्निर्देशन एवं शोधन भी होता है।

4. भावी जीवन की तैयारी करना–शिक्षा बालक को भविष्य के जीवन को व्यतीत करने के लिए तैयार करती है। **मिल्टन** के अनुसार, "**मैं उसी को सम्पूर्ण शिक्षा कहता हूँ, जो मनुष्य को युद्ध एवं शान्ति के समय दोनों प्रकार के–व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक कार्यों के लिये योग्य बनाए।**"

5. सांस्कृतिक वंश क्रम का निर्वाह–शिक्षा हमारी सांस्कृतिक विरासत (Cultural Heritages) को आगे बढ़ाती है। शताब्दियों पुराना साहित्य आज भी केवल शिक्षा के कारण ही सुरक्षित है। रीति-रिवाज, लोक साहित्य एवं संगीत, समाज परम्परायें आदि सभी शिक्षा के कारण ही समाज की गतिशीलता में बहते हुए भी सुरक्षित रहती हैं।

6. राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना का विकास–शिक्षा के बिना राष्ट्रीय भावना व सुरक्षा के दृष्टिकोण का विकास नहीं हो सकता। शिक्षा के अभाव में ही हमारा देश शताब्दियों तक परतन्त्र रहा। आज जो हम स्वतन्त्र हैं, केवल इसलिये कि शिक्षा ने हमारी वैचारिकता को झकझोंरा है और आज राष्ट्र पर आने वाले प्रत्येक संकट का सामना हर नागरिक करने के लिये तत्पर रहता है।

7. समाज सुधार व समाज का विकास–शिक्षा के कारण सामाजिक चेतना का विकास होता है। **डीवी** के अनुसार, "सामाजिक चेतना से व्यक्ति शिक्षा मे अति निश्चित एव अल्पमत साधनों द्वारा सामाजिक और संस्थागत उद्देश्य के साथ-साथ समाज के कल्याण, प्रगति और सुधार में रुचि का पुष्पित होना पाया जाता है।"

प्रश्न 4—मानव-जीवन में शिक्षा के विभिन्न कार्यों की विवेचना कीजिए।

उत्तर–

मानव जीवन में शिक्षा के विभिन्न कार्य

शिक्षा, सम्पूर्ण मानव-समाज को नियन्त्रित करती है। यह सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण रखकर औचित्य तथा अनौचित्य पर विचार करती है और समाज को सम्पूर्ण रूप से उस परम्परा का रूप देती है। मानव-जीवन को उन्नत एवं समाजोपयोगी बनाने के लिये शिक्षा निम्नलिखित कार्य करती है—

1. चरित्र निर्माण–शिक्षा के द्वारा बालक की मूल प्रवृतियों का परिष्कार होता है और यह परिष्कार आदत बनकर चरित्र का निर्माण करता है। चरित्र की व्याख्या करते हुए **राधाकृष्णन** ने कहा है—"चरित्र भाग्य है। चरित्र वह वस्तु है, जिस पर राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है। तुच्छ चरित्र वाले मनुष्य श्रेष्ठ राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। यदि हमारे पैरों के नीचे की जमीन खिसक रही है तो हम पहाड़ पर नहीं चढ़ सकते, जबकि हमारे भवन की नींव ही हिल रही है, तब हम उस ऊँचाई पर किस प्रकार पहुँच सकते हैं, जिस पर हम पहुँचना चाहते हैं।"

2. आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य बनाना–शिक्षा मानव को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता का विकास करती है। शिक्षा व्यक्ति को रोजी, रोटी कमाने के अवसर प्रदान करती है। जीवन संघर्ष में उसे समायोजना की शक्ति प्रदान करती है। **स्वामी विवेकानन्द** के अनुसार–"शिक्षा का कार्य यह पता लगाना है कि जीवन की समस्याओं को किस प्रकार हल किया जाये और आधुनिक सभ्य समाज का ध्यान इसी बात में लगा हुआ है।"

3. व्यावसायिक कुशलता एवं आत्म-निर्भरता–शिक्षा के द्वारा मानव व्यावसायिक कुशलता प्राप्त कर आत्म-निर्भर हो जाता है। प्राय: देखा जाता है कि निश्चित अवधि की सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् किसी उद्योग या व्यवसाय में बालक विशेषता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इससे आत्म-विश्वास बढ़ता है।

4. जीवन की तैयारी–विलमॉट के अनुसार—"शिक्षा जीवन की तैयारी है।" यह कथन शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। यदि शिक्षा यह कार्य न करे तो बालक कुण्ठित एवं पलायनवादी हो जायेगा। **स्वामी विवेकानन्द** ने कहा है—"यदि कोई मनुष्य केवल कुछ परीक्षायें पास कर सकता है और अच्छे व्याख्यान दे सकता है तो आप उसे शिक्षित समझते हैं। क्या वह शिक्षा, शिक्षा कहलाने योग्य है, जो जन-समूह को जीवन से संघर्ष करने के लिये अपने आप को तैयार करने में सहायता नहीं देती और उसमें शेर का साहस उत्पन्न नहीं करती।"

5. समायोजना की क्षमता–थॉमसन ने कहा है—"शिक्षा में वातावरण एवं कार्य छात्रों के अनुसार होने चाहियें। उसे अस्तित्व के लिये यथा-सम्भव अनुभव के अवसर मिलने चाहियें, जिससे उनकी मूल प्रवृत्तियाँ सन्तुष्ट हो सकें।"

वास्तविकता यह है कि शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में संघर्षों का निर्माण होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति में संघर्षों का सामना करने का अदम्य साहस उत्पन्न होता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति या तो वातावरण को बदल देता है अथवा वातावरण के अनुकूल स्वयं को ढाल लेता है। समायोजन से हमारा तात्पर्य व्यावहारिकता से है। **स्वामी विवेकानन्द** ने भी कहा है—"कार्य के सभी क्षेत्रों में आपको व्यावहारिक होना है। सम्पूर्ण देश सिद्धान्तों की भीड़ में तबाह हो चुका है।"

6. नेतृत्व के लिये शिक्षा–आज संसार में लोकतन्त्र का बोलबाला है। लोकतन्त्र सफल नागरिक व अच्छे नेताओं के अभाव में सफल नहीं हो सकता। **डॉ० आर० एस० मणि** ने कहा है—"विशेष रूप से उस समय जबकि लोकतन्त्र जीवन पद्धति हो गई है और मतदान मंजूषा राजनीतिक लोकतन्त्र की प्रतीक हो गई है, अच्छे नेतृत्व की आवश्यकता है। लोगों की उन स्वार्थी एवं बेईमान नेताओं से रक्षा की जानी चाहिये, जो अपने हितों के लिये सब कुछ कर सकते हैं।" अत: सच्चे नेतृत्व के लिये सेवा की भावना के साथ-साथ अच्छे प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है।

7. राष्ट्रीय व भावनात्मक एकता–सफल जनतन्त्र एवं राष्ट्र के निर्माण का आधार राष्ट्रीय एकता का विकास उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षा की प्रगति नहीं हो पाती। **जवाहरलाल नेहरू** ने कहा था—"राष्ट्रीय एकता के प्रश्न में जीवन की प्रत्येक वस्तु आ जाती है। शिक्षा का स्थान इन सबसे ऊपर है और यही आधारशिला है।"

भारत मे विविधता है, अनेकता है। विविधता तथा अनेकता के होते हुए भी राष्ट्र उस समय तक एक नहीं होगा, जब तक सभी धर्मों, सम्प्रदायो व जातियों के लोग अपने आप को भावात्मक रूप से एक नही समझते। **जवाहरलाल नेहरू** का विचार था—"जहाँ कहीं मै जाता हूँ, वही मै एक ऐसी बात पर बल देता हूँ, जो प्रत्यक्ष है और जिससे हर व्यक्ति को सहमत होना चाहिये। मै भारत की एकता पर बल देता हूँ, न केवल राजनीतिक एकता पर जिसको हमने प्राप्त किया है, पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण भावात्मक एकता पर, अपने मनों और हृदयों की एकता पर और पृथकता की भावनाओं के दमन पर।"

अत: स्पष्ट है कि शिक्षा के द्वारा ही मानव पूर्णता को प्राप्त करता है। शिक्षा के अभाव में मानव, इस संसार में जीता अवश्य है, पर वह अपना शोषण कराकर जीता है। वह स्वतन्त्र रूप से जीवन-यापन नहीं करता और परतन्त्र होकर वह दूसरों के लिये गुलामी करता रहता है, आत्मसम्मान की भावना का उसमें से लोप हो जाता है, और हीनता उसमें इस सीमा तक भर जाती है कि वह आजीवन उसी कशमकश मे पड़ा रहता है।

शिक्षा ने मानव को पूर्णता दी है, संस्कृति की रक्षा की है और संस्कृति के माध्यम से मानव-विकास की सभी प्रक्रियाओं को सुरक्षित रखा है। **डॉ० जाकिर हुसैन** के शब्दों में—"केवल संस्कृति की सामग्री के द्वारा ही हर शिक्षा की प्रक्रिया को गति दी जा सकती है। केवल इसी सामग्री से मानव-मस्तिष्क का विकास हो सकता है।" ➤

प्रश्न 5—राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा के विभिन्न कार्यों की विवेचना कीजिए।

उत्तर-

राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा के विभिन्न कार्य

शिक्षा जिस प्रकार व्यक्ति तथा समाज के जीवन में क्रियाशील तथा लाभकारी है; राष्ट्रीय जीवन के विकास तथा दिशा निर्देश में भी उसका अत्यन्त महत्त्व है। **मैकआइवर** ने ठीक ही कहा है—राष्ट्र का गुण उसकी सामाजिक इकाइयों का गुण है। सामाजिक इकाइयों का जीवन ही राष्ट्र का जीवन है। यदि ईंधन ही खराब हो तो ज्योति कैसे तेज हो सकती है। यदि सामाजिक इकाइयाँ ही निर्बल हैं तो राष्ट्र कैसे दैदीप्यमान हो सकता है। इस दृष्टि से राष्ट्र के जीवन को विकसित करने के लिये शिक्षा निम्न कार्य करती है—

1. नेतृत्व का प्रशिक्षण–प्रजातन्त्र का निर्माण योग्य नेताओं द्वारा होता है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में दूरदर्शी, निष्ठावान तथा क्रियाशील नेतृत्व शिक्षा के द्वारा ही विकसित होता है। **डॉ० आर० एस० मणि** के अनुसार–"विशेष रूप से इस समय जबकि देश में प्रजातन्त्र जीवन का ढंग हो गया है, अच्छे नेतृत्व की आवश्यकता है। सच्चे नेतृत्व के लिये सेवा की भावना के साथ-साथ, अच्छे प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है।"

2. राष्ट्रीय विकास–राष्ट्र का विकास शिक्षा के द्वारा होता है। शिक्षित व्यक्ति राष्ट्र की धरोहर होता है। वह राष्ट्र का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास करता है।

3. राष्ट्रीय एकता–राष्ट्र विकास, राष्ट्रीय एकता के अभाव में नहीं हो सकता। राष्ट्रीय एकता का बीजारोपण शिक्षा के द्वारा होता है। **पंडित नेहरू** के शब्दों में—"राष्ट्रीय एकता के विषय में जीवन की प्रत्येक वस्तु आ जाती है। शिक्षा ही राष्ट्रीय एकता का आधार है।"

4. भावात्मक एकता–राष्ट्र में अनेक धर्म, सम्प्रदाय तथा वर्गों के व्यक्ति होते हैं। उनमें पारस्परिक सद्भाव शिक्षा के द्वारा ही विकसित होता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में भावात्मक एकता विकसित होती है।

5. राष्ट्रीय अनुशासन–कोई भी राष्ट्र उस समय तक सुदृढ़ नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें राष्ट्रीय अनुशासन न हो। राष्ट्रीय अनुशासन से अभिप्राय है—समस्त नागरिकों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना। शिक्षा ऐसे सभी कर्त्तव्यों का पालन करती है।

6. कर्त्तव्य पालन–प्रत्येक नागरिक अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करे, शिक्षा का यही प्रयत्न रहता है। इसी प्रयत्न द्वारा वह राष्ट्र के जीवन को गतिशील बनाता है।

7. नैतिकता का शिक्षण–राष्ट्र के विकास में नैतिकता एक बीज मन्त्र है। अनैतिक व्यक्ति राष्ट्र को पतन की ओर ले जाते हैं। नैतिक व्यक्ति राष्ट्र का उत्थान करते हैं। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में नैतिक गुणों को विकसित किया जा सकता है। **हरबर्ट** के अनुसार—शिक्षा का एक मात्र कार्य है नैतिकता। नैतिक आधार पर खड़ा राष्ट्र कभी भी निर्बल नहीं होता।

8. कुशल श्रमिकों का निर्माण–राष्ट्र के निर्माण में कुशल श्रमिकों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। बड़ी-बड़ी योजनाओं द्वारा जितने भी उत्पादक कार्य किये जा रहे हैं; उनके मूल में कुशल श्रमिकों की कुशलता है। शिक्षा कुशल श्रमिकों का निर्माण करती है।

9. राष्ट्रीय हित–शिक्षा अपनी शैक्षिक प्रक्रिया के मध्य राष्ट्रीय हितों को प्रमुखता देती है। राष्ट्र हित में सभी का हित है। डॉ० **राधाकृष्णन** के अनुसार–"भारत में प्रजातन्त्र का भविष्य, अनुशासन मे रहने की इच्छा तथा व्यक्ति-बलिदान पर आधारित है। यदि भारत को स्वतन्त्र, सयुक्त तथा प्रजातान्त्रिक रहना है तो शिक्षा को चाहिये कि वह लोगो को प्रादेशिकता तथा तानाशाही के बजाय एकता तथा प्रजातन्त्र के लिये विकसित करे।"

10. सामाजिक कुशलता–राष्ट्र के जीवन को विकसित करने के लिये शिक्षा सामाजिक कौशल को विकसित करती है। वह ऐसे व्यक्तियो का निर्माण करती है, जो राष्ट्र के लिये भार न होकर, उपयोगी हो।

अत: स्पष्ट है कि शिक्षा, राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करने, निर्देश देने और प्रत्येक नागरिक के जीवन को सुखी करने के लिये महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है।

प्रश्न 6—शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए। व्यक्ति तथा समाज के कल्याण के लिए आप किस उद्देश्य पर बल देंगे?

उत्तर–

शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में शिक्षाशास्त्रियों में मतभेद रहा है। यह मतभेद आज का नहीं, प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। **अरस्तू** के अनुसार—"इस विषय में हम एक मत नहीं हैं कि बालक को क्या सीखना चाहिये" ? **रॉस** (Ross) ने भी इसी ओर संकेत करते हुए कहा है—"दुर्भाग्य से यह कथन अपनी जगह सही है कि इन मौलिक प्रश्नों का कोई सर्वमान्य उत्तर नहीं है।"

सवाल यह है कि शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करने की आवश्यकता क्यों है ? औपचारिक शिक्षा का विधान पाठ्यचर्या और शिक्षण-विधियों, शिक्षा-प्रक्रिया का सुचारू रूप से संचालन, उत्साह में वृद्धि, समय और शक्ति का सदुपयोग तथा शिक्षा के उद्देश्यों की आवश्यकता पर बल देता है।

जीवन एवं समाज के आदर्श
(Life and Ideals of Society)

पाल एच० हैन्स (Paul H. Hans) के शब्दों में—"शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैयारी है। पूर्णता में जीवन व्यतीत करने का अभिप्राय यथा-सम्भव समाजोपयोगी एवं अपने को सुखी बनाना है। उपयोगिता का अर्थ सेवा करना होता है अथवा कोई भी ऐसा कार्य जो मानव-जाति को भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति में से एक अथवा दोनों में सहायक हो सके, उपयोगिता के अन्तर्गत माना जाता है।" इस कथन से स्पष्ट है कि वही उद्देश्य उपयोगी होता है, जो जीवन एवं समाज के आदर्शों को प्राप्त करने में सहायक होता है।

प्रश्न उठता है कि जीवन तथा समाज के आदर्श क्या हैं ? क्या ये एक-दूसरे के विरोधी हैं अथवा एक-दूसरे के पर्याय हैं। उद्देश्यहीनता जीवन में हो तो वह समाज को भी दिशाहीन बना देती है। अत: जीवन तथा समाज के आदर्शों से शिक्षा के उद्देश्यों का सम्बन्ध निम्न प्रकार है—

1. जीवन तथा समाज को दिशा देना–शिक्षा के उद्देश्य, मानव को दिशा प्रदान करते हैं। मनुष्य का चरम लक्ष्य क्या है, शिक्षा के उद्देश्य, उसे उस चरम लक्ष्य की ओर पहुँचाने में विशेष योग देते हैं। सभी युगों में महान् विचारकों ने जीवन के उद्देश्यों को निर्धारित किया और शिक्षा के माध्यम से उन उद्देश्यों को प्राप्त करने में प्रयास किया।

2. मानव-जीवन तथा व्यवहार की जटिलता को समझना–मनुष्य का जीवन और उसका व्यवहार ही इस संसार को गति प्रदान करता है। आज के युग में जटिलताओं के विकसित हो जाने के कारण, मनुष्य के व्यवहार को समझना अत्यन्त जटिल कार्य हो गया है। शिक्षा के उद्देश्यों के द्वारा मानव-व्यवहार की जटिलताओं को समझने तथा उसे सरल एवं हल करने में विशेष सहायता मिलती है।

3. औपचारिक शिक्षा–शिक्षा के उद्देश्य, व्यक्ति को औपचारिक रूप से शिक्षा प्रदान करते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति में उन गुणों तथा शक्तियों का विकास होता है, जिनसे व्यक्ति को जीवन-यापन करने तथा समाज में समायोजित रूप से रहने के अवसर प्राप्त होते हैं।

4. सर्वांगीण विकास–शिक्षा के उद्देश्य, व्यक्ति में उन गुणों तथा क्षमताओं को विकसित करते हैं, जिनके द्वारा उसका सर्वांगीण विकास सम्भव है। शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास के सन्तुलन से व्यक्ति पूर्ण मानव बनता है।

5. उत्साहवर्धन–शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को आगे बढ़ने, प्रगति करने की प्रेरणा मिलती है। यह प्रेरणा उसका उत्साह बढ़ाती है। व्यक्ति अधिक तन्मय होकर अपने कार्य सम्पन्न करता है, उसमें कौशल अर्जन की निपुणता विकसित होती है।

6. सांस्कृतिक हस्तांतरण–शिक्षा के उद्देश्य अनादि काल से मानव संस्कृति का संरक्षण करते रहे हैं। सामाजिक-आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्य हमें सांस्कृतिक विरासत में मिलते हैं। हमारा इतिहास तथा संस्कृति हमारी पहचान बनाते हैं। यह पहचान पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती है। शिक्षा का उद्देश्य इस सांस्कृतिक हस्तांतरण को सम्भव करता है। शिक्षा के उद्देश्यों द्वारा हमारी संस्कृति को पहचान बनती है। यदि सामाजिक परिवर्तन के कारण कोई परिवर्तन होता है तो वह सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag) के रूप में प्रकट होता है।

7. श्री वृद्धि–मानव-जीवन का उद्देश्य, श्री अर्थात् वैभव की प्राप्ति करना है। व्यक्ति तथा समाज, दोनों ही वैभवशाली होने से राष्ट्र विश्व में पहचान बनाता है। इसलिये शिक्षा के उद्देश्य, व्यक्ति तथा समाज के जीवन में वैभव की वृद्धि करने में सहायता देते हैं।

8. समाज-व्यवस्था के साथ अनुकूलन–समाज-व्यवस्था जिस प्रकार की होती है, उसी प्रकार के शिक्षा के उद्देश्य बनते हैं। पूँजीवाद व्यवस्था का आधार यदि लोकतान्त्रिक है तो वहाँ पर शैक्षिक उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज, दोनों के संतुलित विकास पर बल देंगे। समाजवादी समाज में शिक्षा, व्यक्ति को समाजोपयोगी बनाने पर बल देती है। मिश्रित व्यवस्था वाले समाजों में व्यक्ति तथा समाज, दोनों के हितों के विकास के लिये शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।

9. जीवन से सम्बन्ध–शिक्षा के उद्देश्य व्यक्ति के जीवन से इस प्रकार सम्बन्धित हैं—(1) व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिये, (2) सर्वांगीण विकास हेतु, (3) जीवन की पूर्णता के लिये, (4) स्वयं को जानने के लिये, (5) भविष्य के निर्माण के लिये, (6) समायोजन के लिये, (7) उचित निर्णय के लिये, (8) जीवन की कठिनाइयों पर नियन्त्रण करने तथा विजय प्राप्त करने के लिये।

10. समाज के आदर्शों से सम्बन्ध–शिक्षा के उद्देश्यों का सम्बन्ध समाज के आदर्श, आकांक्षा तथा स्तर से होता है। भौतिकवादी समाज में नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास पर बल नहीं दिया जाता, जबकि आदर्शवादी समाज में नैतिकता तथा चरित्र महत्त्वपूर्ण शैक्षिक उद्देश्य हैं। प्रयोगवादी समाज में उपयोगिता पर बल दिया जाता है तो फासिस्ट समाज में राज्य को प्राथमिकता दी जाती है। समाजवादी समाज में व्यक्ति एक पदार्थ बन जाता है और प्रजातन्त्र में सर्व-कल्याण की कामना की जाती है।

कुल मिलाकर स्थिति यह है कि शिक्षा के उद्देश्य मानव-जीवन को सुखी बनाने तथा सामाजिक आदर्शों को प्राप्त करने में विशेष योग देते हैं। मानव मूल्यों तथा सामाजिक आदर्शों को गति, मानदण्ड तथा आधार देने का काम करते हैं। ➤

प्रश्न 7—शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य क्या हैं ? उनको प्रभावित करने वाले तत्वों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर–

शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य

दिवलिन के शब्दों में—"शिक्षा एक सप्रयोजन नैतिक क्रिया है, अंत: यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यह उद्देश्यविहीन है।" तब फिर प्रश्न उठता है कि शिक्षा के उद्देश्य क्या होने चाहियें ? कुछ कहते हैं—शिक्षा का उद्देश्य है-चरित्र-निर्माण, तो कुछ का मत है कि शिक्षा व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिये तैयार करे। प्राय: प्रत्येक विद्वान् ने शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण अपने-अपने ढंग से किया है। यह भी सच है कि देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार भी शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित होते रहे हैं। प्राचीन भारत में आध्यात्मिक विकास शिक्षा का उद्देश्य था तो ग्रीक में नागरिकता का विकास शिक्षा का कर्त्तव्य था। स्पार्टा में युद्ध के लिये तैयार करना तो हिब्रू में धार्मिकता के लिये शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों के मूल में ज्ञान, नैतिकता, वैयक्तिकता तथा सामाजिकता निहित होती है। ज्ञान की प्राप्ति से जीवन में शिक्षण का आरम्भ होता है।

1. चरित्र-निर्माण के उद्देश्य (Character Building Aim)

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य चरित्र-निर्माण करना है। चरित्र से तात्पर्य नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास है तथा उन मूल्यों को जीवन में व्यवहार करना है। **डॉ० राधाकृष्णन** ने कहा—"भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है।" चरित्र-निर्माण को शिक्षा से मानव-व्यवहार का शोधन होता है। बालकों का चरित्र यदि अच्छा होगा तो वे राष्ट्र की अधिक रक्षा व सेवा कर सकेंगे। चरित्र-निर्माण ही सभी प्रकार के विकास व निर्माण की कुन्जी है। **टी० रेमण्ट** ने इसीलिये कहा है—"शिक्षक का कर्त्तव्य शरीर को

स्वस्थ, ज्ञान को पूर्ण और भावना को शिष्ट बनाना नहीं है वरन् चरित्र को शक्तिशाली और पवित्र बनाना है।'' डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में—''भारत सहित सारे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक सीमित रह गई है, उसमें धार्मिकता तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश नहीं है।'' हरबर्ट ने चरित्र-निर्माण तथा नैतिक विकास को शिक्षा का सर्वोत्तम उद्देश्य माना है।

चरित्र-निर्माण की शिक्षा से चरित्र उत्तम बनता है, जीवन में सफलता मिलती है, समाज का हित होता है। इसके लिये सत्य का शास्त्र, सत्य से प्रेम, असत्य से घृणा, सत्य आचरण की आदत का प्रशिक्षण आवश्यक है।

2. ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य (Knowledge Aim)

वेबस्टर के शब्दो में—''ज्ञान वह है जो ज्ञात है, जो ज्ञात होने के द्वारा संचित रहता है या वह जानकारी है, जो वास्तव में अनुभव द्वारा प्राप्त होती है।'' जॉन डीवी ने कहा है—''केवल वही जो हमारे संस्कारों में संगठित हो गया है, जिससे हम वातावरण को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में समर्थ हो सकें और अपने आदर्शों तथा इच्छाओं को उस स्थिति के अनुकूल बना लें, जिसमें हम रहते हैं, वास्तविक ज्ञान है।''

शिक्षा, ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन है। शिक्षा को ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य प्राचीन काल से माना जाता रहा है। वास्तविकता यह भी है कि शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अधिकतम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

इस उद्देश्य में एक दोष है। कोरा ज्ञान, व्यक्ति को असामाजिक, अव्यावहारिक बना देता है। अपने 'स्व' में व्यक्ति केन्द्रित हो जाता है। उसका वह स्वकेन्द्रितपन, उसे उपयोगी नहीं रहने देता, परन्तु ज्ञान को शिक्षा का उद्देश्य मानने वालों का कहना है कि ज्ञान मानव प्रगति का आधार है, वह मानव को अनुशासन के लिए प्रेरित करता है। शायद इसीलिए **शेक्सपीयर** (Shakespeare) ने कहा है—'ज्ञान की सहायता से ही हम स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं।' (Knowledge is the wing wherewith we fly to heaven.)। **प्रो० हुमायूँ कबीर** का भी ऐसा विचार है—''शिक्षा का उद्देश्य भौतिक संसार और समाज के विचारों तथा आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करना है।'' इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना, निजी उन्नति और समाज सेवा के लिए आवश्यक है।

3. शारीरिक विकास का उद्देश्य (Physical Development Aim)

प्राचीन काल में यूनान के स्पार्टा, रोम आदि नगर राज्यों में शिक्षा का उद्देश्य बालक को स्वस्थ बनाना था। उनका विचार था कि शरीर के विकास के बिना अन्य प्रकार के विकास नहीं हो सकते। अरस्तू ने इसीलिए कहा था—**'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है।'** (Sound mind in a sound body—**Aristotle**)

उस समय विद्वान् शरीर के विकास को महत्त्व देते थे। उनका विचार था कि शरीर के स्वस्थ न रहने पर शेष सभी काम अपूर्ण रह जाएँगे। उपरोक्त नगर राज्यों में तो केवल शक्तिशाली बच्चों को ही जीवित रहने का अधिकार था। बच्चों को पहाड़ पर से नीचे लुढ़काया जाता था, जो जीवित बचते उनका पालन-पोषण उचित रीति से किया जाता था। **रूसो** ने शिक्षा में खेल-कूद, व्यायाम आदि की व्यवस्था इसीलिए की थी।

4. सांस्कृतिक उद्देश्य (Cultural Aim)

शिक्षा, संस्कृति के निरन्तर आगे प्रवाहित करने के साधन के रूप में समझी जाती है, शिक्षा का कार्य भी मानव को सुसंस्कृत (Cultured) एवं परिष्कृत (Cultivated) करना है। **टालयर** के अनुसार—''संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, प्रथा तथा अन्य योग्यतायें और स्वभाव सम्मिलित होते हैं, जिनको मनुष्य समाज के रूप में प्राप्त करता है।''

एच० रग (H. Rugg) के अनुसार—''संस्कृति का अर्थ है मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन से, जो समूहों के साथ सम्बद्ध है। उस समाज विशेष में व्यक्ति किस प्रकार चिन्तन करते हैं, कैसे उनके अनुभव, इच्छायें और विकास हैं एवं भय किस प्रकार के हैं।'' इसलिए संस्कृति में भौतिक जीवन, सामाजिक संस्थायें तथा मानव-व्यवहार आते हैं। शिक्षा के द्वारा संस्कृति की जानकारी तथा सांस्कृतिक हस्तान्तरण होता है। सांस्कृतिक उद्देश्य मानव के सम्पूर्ण विकास पर बल देता है।

इस उद्देश्य के समर्थकों का विचार है कि संस्कृति में वे सभी अनुभव सम्मिलित होते हैं, जो मानव ने आदिकाल से अब तक संचित किए हैं। सांस्कृतिक वंशक्रम (Cultural Heritage) इसी के माध्यम से आगे पीढ़ियों में चलता है। ज्ञान से मस्तिष्क शिक्षित होता है और संस्कृति से हृदय। **महात्मा गाँधी** ने भी संस्कृति को मानव-जीवन की आधारशिला माना है।

5. समायोजन का उद्देश्य (Adjustment Aim)

कुछ शिक्षाशास्त्रियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य समायोजन की कुशलता की अभिवृद्धि है। यदि शिक्षा बालक को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल समायोजित करने में असफल रहती है तो वह अपने उद्देश्य में असफल रहती है। **डार्विन** का मत रहा है कि शक्तिशाली ही जीवन संघर्ष में जीवित रहता है। शिक्षा का कार्य मानव को शारीरिक एवं बौद्धिक रूप से समायोजन के योग्य बनाता है। वातावरण ही वास्तविक शिक्षक है। इसके द्वारा अनुभव प्राप्त करके मनुष्य सदैव कुछ न कुछ सीखता है। अत: शिक्षा का उद्देश्य समायोजन की क्षमता होना चाहिए।

6. जीविकोपार्जन का उद्देश्य (Vocational Aim)

मानव की तीन मौलिक आवश्यकतायें हैं—**रोटी, कपड़ा और मकान।** इन मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य प्रयत्न करता है। अत: शिक्षा का उद्देश्य बालक को इस योग्य बनाना होना चाहिये कि वह बड़ा होने पर अपनी जीविका स्वयं कमा सके और अपने परिवार पर आर्थिक बोझ न डाले।

जीविकोपार्जन के उद्देश्य को उपयोगिता का 'Bread and Butter Aim' भी कहा गया है। **डॉ० जाकिर हुसैन** ने कहा है—"राज्य को, अपने नागरिकों को किसी लाभकारी कार्य के लिए शिक्षित करना चाहिए।"

इस मत के मानने वालों का मत है कि शिक्षा यदि बालक को जीविकोपार्जन के योग्य बना देती है तो वह भविष्य की अनेक असंगतियों से बच जाता है। उसमें समाज में जीवन-यापन करने का आत्म-विश्वास आ जाता है और वह उत्तम नागरिक बन जाता है। **जॉन डीवी** ने कहा है—"यदि एक व्यक्ति अपनी जीविका प्राप्त करने में असमर्थ है तो इस बात की आशंका है कि वह स्वयं पथ-भ्रष्ट हो जाए और दूसरों को हानि पहुँचाए।"

बुनियादी शिक्षा में उपयोगिता को आधार मानकर **गाँधी जी** ने भी कहा है—"सच्ची शिक्षा को बच्चों को बेरोजगारी से एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिए।"

7. सर्वांगीण विकास का उद्देश्य (Harmonious Development Aim)

पेस्टॉलॉजी के अनुसार—"मानव प्रकृति का एकांगी विशिष्ट विकास अप्राकृतिक एवं झूठा है।" शिक्षा मानव-जीवन पूर्णत: प्रदान करने के रूप में जानी जाती है। किसी भी एक योग्यता या क्षमता के विषय में सोचना मानव के प्राकृतिक सन्तुलन को समाप्त करना है।

इस उद्देश्य के समर्थन में विचार रखने वाले शिक्षाशास्त्रियों का विचार है कि किसी एक अंग विशेष पर बल देने से एक ही पहलू का विकास होता है। एक पहलू के विकास को समविकास नहीं कह सकते। यह उद्देश्य मनोवैज्ञानिक भावभूमि पर आधारित है। **माध्यमिक शिक्षा आयोग** ने भी कहा है—"वह शिक्षा, शिक्षा कहलाने के योग्य नहीं है, जो मनुष्य में अपने साथी मनुष्यों के साथ सुन्दरता, सामंजस्य और कुशलता से रहने के आवश्यक गुणों का विकास नहीं करती।"

महात्मा गाँधी ने भी समविकास पर जोर दिया है। उनके अनुसार—"शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का उचित और सामंजस्यपूर्ण मिश्रण, पूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए आवश्यक है और शिक्षा की सच्ची व्यवस्था का आधार है।"

8. पूर्ण जीवन का उद्देश्य (Complete Living Aim)

शिक्षा के इस उद्देश्य के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि शिक्षा के द्वारा उन सभी अंगों का विकास हो जाना चाहिये, जो जीवन को सरलतापूर्वक व्यतीत करने की सम्भावनाओं का विकास कर सकें। जीवन की हर परिस्थिति का डटकर मुकाबला करने की सामर्थ्य व्यक्ति में आ जानी चाहिए। **हरबर्ट स्पेन्सर** के अनुसार—"हमें केवल भौतिक अर्थ में नहीं, वरन् विस्तृत रूप में जीवन व्यतीत करना है। परिस्थितियों और सभी दिशाओं में आचरण पर उचित नियन्त्रण करना सामान्य समस्या है।" ➤

प्रश्न 8—नर्सरी शिक्षा से आप क्या समझते ? नर्सरी शिक्षा की आवश्यकता एवं लाभ बताइये।

उत्तर—नर्सरी शिक्षा का अर्थ–प्राय: नर्सरी शिक्षा का तात्पर्य उस शिक्षा से लिया जाता है जो तीन वर्ष से पाँच अथवा छ: वर्ष की आयु के बच्चों को दी जाती है। यह शिक्षा अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा के शुरू होने तक दी जाती है।

नर्सरी स्कूलों के उद्देश्य

मिस ग्रेस ओवन ने नर्सरी स्कूलों के छः उद्देश्य बताये हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

1. बालको के विकास के लिए धूप, रोशनी, खुला स्थान और स्वच्छ वायु के लिए स्वच्छ वातावरण उपलब्ध कराना।
2. रोगों की रोक-थाम की व्यवस्था सहित स्वस्थ, सुन्दर और नियमित जीवन की व्यवस्था करना।
3. बालकों में पर्याप्त अच्छी आदतों के विकास में सहयोग देना।
4. कल्पना शक्ति, कला तथा अन्य रुचियो के विकास के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करना।
5. सामाजिक जीवन का एक छोटा-सा ऐसा रूप प्रदान करना जिसमें विभिन्न आयु वाले बालक परस्पर काम करते है और खेलते हैं।
6. वास्तविक जीवन का घर से समन्वय स्थापित करना।

नर्सरी शिक्षा की आवश्यकता

निम्न कारणों से नर्सरी शिक्षा की आवश्यकता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है :

1. अधिकांश घरों में शिक्षा के वातावरण का अभाव तथा नर्सरी स्कूल द्वारा इस अभाव की पूर्ति।
2. संयुक्त परिवार प्रथा के अभाव की पूर्ति करना।
3. वर्तमान अर्थव्यवस्था में स्त्रियों का काम पर जाना और बच्चों की देखभाल न कर सकना।
4. नर्सरी शिक्षा का प्राथमिक शिक्षा पर अच्छा प्रभाव।
5. आरम्भ से ही बच्चों को गुणवी वातावरण प्रदान करना।

नर्सरी शिक्षा से लाभ

1. खुली हवा में शिक्षा प्राप्त करके छात्र शारीरिक दृष्टि से लाभ उठाते हैं।
2. स्वस्थ आदतों का निर्माण होता है।
3. आनन्ददायक गतिविधियों, लोक नृत्यों और स्वच्छन्द क्रिया-कलापों द्वारा बच्चों का तीव्र गति से विकास होता है।
4. बालकों को उत्साहवर्द्धक वातावरण प्राप्त होता है।
5. बालकों को रचनात्मक गतिविधियों में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है।
6. आत्मविश्वास और स्वतन्त्रता की आदतों का विकास होता है।
7. माता पर अनावश्यक निर्भरता से बालक मुक्त होते हैं।
8. बालकों को सहयोग तथा मिल-जुलकर रहने का प्रशिक्षण प्राप्त होता है।
9. बालक सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान की आदत को सीखता है।
10. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालकों को अपनी रचनात्मक और विध्वंसात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के अवसर प्राप्त होते हैं। ➤

प्रश्न 9—पूर्व प्राथमिक (नर्सरी) शिक्षा के पाठ्यक्रम, संगठन तथा नियोजन की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

अथवा

विभिन्न शिक्षा आयोगों के द्वारा नर्सरी विद्यालय के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर– **शिक्षा आयोग 1964-66 के नर्सरी स्कूल के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार**

पूर्व-प्राथमिक स्कूल के लिए पाठ्यक्रम की बात ही क्या की जा सकती है, पाठ्यक्रम को कार्यकलाप का क्रम ही समझा जाना ज्यादा उचित होगा। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा बच्चों की देखभाल सम्बन्धी समिति (1961-62) के इस सुझाव से शिक्षा-आयोग 1964-66 सहमत है कि इस कार्यक्रम में नीचे लिखे कार्यकलाप सम्मिलित किए जाएँ—

1. खेल-कूद के कार्यकलाप—

(i) उन्मुख खेल, जिनमे शैक्षणिक और रचनात्मक खिलौने, घरेलू खेल और बच्चों के साथ बाहर के कार्यकलाप शामिल हैं।

(ii) पेशियों और अंगों के सचालन वाले शारीरिक कार्यकलाप।

(iii) शारीरिक, पारिवारिक और सामाजिक परिवेश का सम्पर्क, परिचय, अनुकरण और अनुभव कराने वाले खेल-कूद।

(iv) संगठित खेल-कूद सामूहिक कार्यकलाप और खेल।

(v) खेल के मैदान के कार्यकलाप, जिनमें खेल के मैदान के उपकरणों का उपयोग किया जाए।

2. प्राकृतिक पदार्थों और खासतौर पर बनाये गए उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए केन्द्रीय ज्ञान की शिक्षा।

3. सरल व्यायाम, नृत्य और लक्ष्ययुक्त खेलों को शामिल करते हुए शारीरिक प्रशिक्षण।

4. शारीरिक श्रम और खेल, जैसे बागवानी, सरल गृह कार्य और आसान सामुदायिक श्रम प्रयासों मे भाग लेना।

5. स्कूल में अपना काम आप करना जिससे जहां तक हो सके नौकरों और वयस्क सहायकों की जरूरत न रहे।

6. उंगलियों की प्रवीणता और औजारों के उपयोग वाले हस्तकार्य और कार्यकलाप और ड्राइंग, चित्रकला, गीत, संगीत और नृत्य जैसे कार्यकलाप।

7. भाषा-ज्ञान सहित अध्ययन के कार्यकलाप, वैयक्तिक स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियम, पशु जगत से सम्पर्क रखने वाले प्रारम्भिक प्राकृतिक अध्ययन, गिनती और गणित आदि।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में पूर्व प्राथमिक शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में पूर्व प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप 'शिशु' केन्द्रित है। इसमें खेलकूद और बच्चों की गतिविधियों की चर्चा की गई है। परम्परागत ढंग से पढ़ाए जाने वाले पुस्तकीय विषयों को समाप्त करने के लिए कहा गया है। शिक्षा नीति में दिए गए सुझाव अग्रलिखित हैं—

1. बच्चों से संबन्धित राष्ट्रीय नीति इस बात पर विशेष बल देती है कि बच्चों के विकास पर पर्याप्त विनियोग किया जाये, विशेषकर ऐसे वर्गों पर जिनके बच्चों की पहली पीढ़ी बड़ी संख्या में शिक्षा प्राप्त कर रही है।

2. शिशुओं की देखभाल और शिक्षा के केन्द्र पूरी तरह बाल-केन्द्रित होंगे। उनकी गतिविधियाँ खेल-कूद पर और बच्चों के व्यक्तित्व पर आधारित होंगी। इस अवस्था में औपचारिक रूप से पढ़ना-लिखना नहीं सिखाया जाएगा। इस कार्यक्रम में स्थानीय समुदाय का पूरा सहयोग लिया जाएगा।

3. शिशुओं की देखभाल और पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रमों को पूरी तरह समेकित किया जायेगा ताकि इससे प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा मिले और मानव संसाधन विकास में सामान्य रूप से सहायता मिल सके। इसके साथ ही स्कूल स्वास्थ कार्यक्रमों को और सुदृढ़ किया जायेगा।

4. बच्चों के विकास के विभिन्न पहलुओं को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। पौष्टिक भोजन व स्वास्थ्य को और बच्चों को सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, नैतिक और भावनात्मक विकास को समेकित रूप में ही देखना होगा। इस दृष्टि से शिशुओं की देखभाल और शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाएगा और इसे जहाँ भी संभव हो, समेकित बाल विकास सेवा कार्यक्रम के साथ जोड़ा जाएगा। प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में शिशुओं की देखभाल के केन्द्र खोले जाएँगें, जिससे अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल करने वाली लड़कियों को स्कूल जाने की सुविधा मिल सके। साथ ही निर्धन वर्गों की कार्यरत स्त्रियों को भी इन केन्द्रों से मदद मिल सकेगी।

पूर्व प्राथमिक शिक्षा का संगठन तथा नियोजन

पूर्व प्राथमिक शिक्षा का संगठन तथा प्रबन्ध नगरपालिकाओं या सरकार द्वारा किया जा रहा है। इसकी व्यवस्था या तो ईसाई मिशनरियों द्वारा की जा रही है या कुछ ऐसे व्यक्तियों द्वारा जो इस साधन से धनोपार्जन करना चाहते हैं। भारत में विभिन्न प्रकार के पूर्व प्राथमिक विद्यालय पाये जाते हैं।

(1) किंडरगार्टन—किंडरगार्टन विद्यालय फ्रोबेल के शिक्षा सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में बालकों को साक्षर तथा सदाचारी बनाने वाली क्रियाओं पर बल दिया जाता है।

(2) नर्सरी विद्यालय—नर्सरी विद्यालय श्रीमति मैक मिलन के शिक्षा सिद्धान्तों पर आधारित हैं तथा इनमें बालकों के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास पर बल दिया जाता है।

(3) मान्टेसरी विद्यालय—मान्टेसरी विद्यालय डॉ० मेरिया मान्टेसरी द्वारा स्थापित किये गये। इन विद्यालयों में बालकों में उत्तम तथा स्वस्थ आदतों का विकास किया जाता है।

1964-66 में शिक्षा आयोग के अनुसार विद्यालय के पाठ्यक्रम में नैतिक, सामाजिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों को आधार माना जाना चाहिये। प्रारम्भिक शारीरिक शिक्षा की क्रियाओं जैसे नृत्य तथा संगीत, नाटक आदि को पूर्व प्राथमिक शिक्षा में शामिल किया जाना चाहिये तथा ऐसे विषयों का चुनाव होना चाहिये जिनसे नेतृत्व की भावना तथा समूह भावना का विकास हो।

पूर्व प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत पूर्व प्राथमिक स्तर पर विज्ञान की शिक्षा का भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित होना अत्यन्त आवश्यक है। विज्ञान के आधुनिक अनुसन्धान तथा प्रगति का परिचय खिलौनों तथा द्रव्य-श्रव्य सामग्री के आधार पर दिया जा सकता है।

शिक्षा में भ्रमण के द्वारा बालकों को प्रत्यक्ष शिक्षण कराया जा सकता है। देश-विदेश की घटनाओं से उन्हें अवगत कराया जा सकता है तथा देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति ऐतिहासिक स्थान तथा बड़े-बड़े उद्योग आदि स्थानों का भ्रमण कराया जा सकता है। ➤

प्रश्न 10—भारत में पूर्व प्राथमिक (नर्सरी) शिक्षा की वर्तमान स्थिति की संक्षिप्त विवेचना कीजिये। नर्सरी शिक्षा की धीमी गति क्यों हैं ? कारण बताइये।

उत्तर–

भारत में पूर्व प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति

वर्तमान में पूर्व प्राथमिक शिक्षा केवल शहरी क्षेत्र तक ही सीमित है। अधिकतर पूर्व प्राथमिक विद्यालय निजी संस्थाओं द्वारा संचालित हैं, केवल कुछ पूर्व प्राथमिक विद्यालय ही पूर्व प्राथमिक शिक्षा केन्द्र राज्य या केन्द्र द्वारा संचालित हैं। यद्यपि राज्य उदार अनुदानों की मदद से पूर्व प्राथमिक शिक्षा को प्रात्साहित करता है परन्तु फिर भी पूर्व प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान दिशा सन्तोषप्रद नहीं है। इन पूर्व प्राथमिक विद्यालयों में केवल उच्च वर्ग के बालक ही शिक्षा ग्रहण कर पाते हैं। इन स्कूलों की फीस भी बहुत अधिक होती है तथा कार्यक्रम भी इस प्रकार का होता है जिसका सम्बन्ध प्राय: सम्पन्न परिवारों के वातावरण से होता है, जिसके कारण अधिकतर भारतीय बालक पूर्व प्राथमिक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकतर पूर्व प्राथमिक स्कूलों के पास न तो उपयुक्त भवन ही हैं तथा न ही आवश्यक शिक्षण सामग्री। इन विद्यालयों की सबसे बड़ी कमी है अप्रशिक्षित अध्यापकों का होना। ये शिक्षक शिशु मनोविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों के ज्ञान के अभाव में परम्परागत शिक्षण करते हैं जो कि शिशुओं के स्वाभाविक विकास में बाधा डालता है।

यद्यपि पूर्व प्राथमिक विद्यालय खोलने के लिए बेसिक शिक्षा अधिकारी की अनुमति आवश्यक है परन्तु अधिकतर विद्यालय बिना मान्यता लिए चलाये जाते हैं। ऐसे स्कूलों के संचालन का प्रमुख उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा धन कमाना होता है तथा विद्यालय में आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कराने व बालकों को उचित रूप से शिक्षित करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। नर्सरी स्कूल खोलना एक ऐसा लाभदायक व्यवसाय हो गया है कि इच्छा रखता है। कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति के द्वारा कई नर्सरी स्कूल चलाये जाने के उदाहरण भी मिलते हैं। इन सभी कारणों से ही पूर्व प्राथमिक शिक्षा अपनी वांछित प्रगति नहीं कर पा रही है, किन्तु यह एक सन्तोषप्रद विषय है कि आम जनता तथा सरकार दोनों ही पूर्व प्राथमिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकारने लगे हैं।

इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार तथा शिक्षा विशेषज्ञ पूर्व प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए व्यापक योजनायें तैयार करें जिससे बालकों की पूर्व प्राथमिक शिक्षा का लाभ प्राप्त हो सके। राज्य सरकारें निजी संस्थाओं को उदार अनुदान देकर पूर्व प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करके तथा राज्य स्तर पर पूर्व प्राथमिक शिक्षा विकास केन्द्र खोलकर पूर्व प्राथमिक शिक्षा की बढ़ोत्तरी में मदद कर सकती हैं। पूर्व प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयुक्त साहित्य की रचना करके तथा अनुसन्धान द्वारा पूर्व प्राथमिक शिक्षा के लिए कम खर्च वाली शिक्षण विधियों का विकास करना भी बहुत जरूरी है।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की धीमी गति

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा के सभी स्तरों पर विकास हुआ है। पूर्व-प्राथमिक शिक्षा में भी बहुत प्रगति है।

1950-51 में मान्यता प्राप्त पूर्व-प्राथमिक स्कूलों की संख्या केवल 305 थी जो बढ़कर 1998-99 में 51,569 हो गई।

चूँकि पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का अंग नहीं है, इस कारण पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध नहीं है। अधिकतर स्कूल मान्यता प्राप्त नहीं हैं। वैसे शहरी क्षेत्रों में तो स्कूल गली-गली में हैं।

इस स्तर पर मान्यता प्राप्त स्कूल केवल 17 प्रतिशत बच्चों को शिक्षा प्रदान करते हैं।

आम तौर पर नर्सरी स्कूल गैर-सरकारी संस्थाओ अथवा व्यक्तिगत स्तर पर खोले गए हैं। इस कारण शिक्षा बड़ी खर्चीली हो गयी है।

नर्सरी शिक्षा की प्रमुख समस्यायें तथा धीमी प्रगति के कारण

1. सरकार की नर्सरी शिक्षा के प्रति उदासीन नीति।
2. नर्सरी शिक्षा की योजना का अभाव।
3. उचित पाठ्यक्रम तथा आवश्यक सामान की कमी।
4. अधिक फीसें।
5. नए प्रयोगों का न होना।
6. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा-संस्थाओं के संगठन की कमी।
7. नर्सरी अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं की कमी।
8. उचित पठन सामग्री का अभाव।
9. साधारण जनता का अनपढ़ होना।
10. अच्छे भवनों की कमी।

PAPER-III

नर्सरी स्कूल का व्यवस्थापन एवं प्रबन्धन

[ORGANIZATION AND MANAGEMENT OF NURSERY SCHOOL]

प्रश्न 1—शिक्षा में विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–विद्यालय का कार्य किसी एक ही व्यक्ति द्वारा संचालित नहीं किया जा सकता। विद्यालय में छात्र, अध्यापक, प्रधानाचार्य एवं अन्य कर्मचारी, संरक्षक अधिकारी सभी व्यक्ति अपना स्थान रखते हैं। विद्यालय तो इन सभी व्यक्तियों के विचारों का समूह होता है। विद्यालय की विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं के सम्बन्ध में, विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से विचार किया है, इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों तथा उनके द्वारा विद्यालय का स्वरूप निम्न प्रकार निर्धारित किया गया है—

विचारक	विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन का रूप
1. वेबर तथा मेयो (Webber & Mayo)	1. विद्यालय एक **नौकरशाही संगठन** के रूप में (The School as a Bureaucratic Organization)
2. पार्सन्स तथा एडवर्ड शिल्ज (T. Parsons & E. Shils)	2. विद्यालय एक प्राणाली के रूप में (The School as a System)
3. जै० कैली (J. Kelly)	3. विद्यालय एक **संयुक्त संगठन** के रूप में (The School as a Complex Organization)
4. साइमन तथा अन्य (Simon & others)	4. विद्यालय एक **सामाजिक प्राणाली** के रूप में (The School as a Social System)
5. हेथॉर्न तथा पीटर ड्यूकर (Hawthorne & Piter Duker)	5. विद्यालय एक **सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन** के रूप में (The School as a Socio-Political System)

प्रत्येक विद्यालय को अपने सभी कार्यों का निर्वाह, समाज में रहकर ही करना पड़ता है। विद्यालय की उन्नति-अवनति तथा अच्छाई-बुराई की चर्चा समाज में सर्वत्र की जाती है। अनेक व्यक्ति, विद्यालय के सम्बन्ध में बातें अवश्य किया करते हैं। विद्यालयों के प्रधानाचार्यों, अध्यापकों, छात्रों आदि के सम्बन्ध में, समाज के व्यक्तियों का एक विशेष प्रकार का मत बन जाता है। स्वीकार करना होगा कि समाज के व्यक्तियों की टीका टिप्पणी, किसी भी विद्यालय की छवि को निखारने अथवा बिगाड़ने में, अपना स्थान अवश्य रखती है। विद्यालय-संगठन पर भी समाज का प्रभाव पड़ता ही है। समाजशास्त्रियों ने विद्यालय संगठन को अग्रलिखित विभिन्न रूपों में देखने का प्रयास किया है—

1. विद्यालय एक संयुक्त संगठन (School as a Complex Organization)—'कैली', 'आर्थर मोलमन' आदि विद्वानों ने विद्यालय को मिश्रित या संयुक्त संगठन के रूप में स्वीकार किया है। अंग्रेजी भाषा के 'Complex' शब्द का अर्थ 'Consisting of parts' होता है। यह 'कॉम्प्लैक्स' शब्द हिन्दी भाषा के मिश्रित या संयुक्त का पर्याय है। मिश्रित या संयुक्त का अर्थ भी उस व्यवस्था को बतलाता है, जिसमें एक के साथ कुछ अन्य भाग भी मिले हुए हों। इस दृष्टि से यदि विद्यालय के सम्बन्ध में विचार किया जाए तो विद्यालय भी एक 'मिश्रित संगठन' प्रतीत होता है।

विद्यालय सचमुच एक ऐसी इकाई होती है, जिसके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में, औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप में अनेक भाग होते है। विद्यालय संगठन के अन्तर्गत प्राचार्य, अध्यापक, छात्र आदि प्रत्यक्ष रूप में भाग लेते हुए दिखाई देते है। समाज की परिस्थितियो का, परोक्ष प्रभाव भी, विद्यालय पर अवश्य होता है। कक्षा-भवनो मे अध्यापक परिश्रमपूर्वक अपने छात्रो को पाठ्यक्रम सम्बन्धी सामग्री का ज्ञान कराते है, किन्तु कभी-कभी प्रधानाचार्य द्वारा आमन्त्रित समाज के सम्मानित व्यक्ति भी विद्यालय मे आकर प्रवचन देते है और छात्रो के ज्ञान मे वृद्धि करते है। विद्यालय प्रांगण में कभी कोई राजनीतिक नेता (मन्त्री आदि) भाषण देता है, कभी कोई वयोवृद्ध दार्शनिक अथवा समाज सुधारक विद्यालय को आदर्श रूप देने के लिये प्रवचन देता है, कभी कोई योगासनो मे प्रवीण व्यक्ति, छात्रो के शरीर तथा मस्तिष्क को पुष्ट बनाने के लिए आकर्षक प्रदर्शन करता है। वास्तव में, इन सभी व्यक्तियों की विद्यालय मे नियुक्ति नहीं होती, ये व्यक्ति परोक्ष में रहते हुए भी विद्यालय संगठन को प्रभावयुक्त बनाने में सहायक होते हैं। सारांश मे कहा जा सकता है कि विद्यालय संगठन की रचना करने में दार्शनिक, समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, अर्थवेत्ताओं, शरीर-विज्ञान वेत्ताओं आदि का योगदान होता है। विद्यालय एक इकाई अवश्य है, किन्तु इसके निर्माण में अनेक तत्वों का समावेश होता है। जिस प्रकार समाज में एक 'औषध मिश्रित संगठन' (Medical complex) में नेत्र, हृदय, हड्डी आदि के विशेषज्ञ चिकित्सक अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं; उसी प्रकार 'मिश्रित विद्यालय संगठन' में भी अनेक प्रकार के व्यक्ति अपने कार्यों का निर्वाह करते हैं। इस प्रकार मिश्रित संगठन में सभी का सहयोग, सराहनीय समझा जाता है।

विद्यालय संगठन के संयुक्त या मिश्रित स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान **आर्थर मोलमन** के अनुसार—**"संगठन कार्य करने की एक मशीन है, जिसमें पुर्जो के रूप में व्यक्ति, उपकरण, विचार, प्रत्यय, प्रतीक, नियम, सिद्धान्त आदि स्वतन्त्र होकर तथा मिश्रित रूप में कार्य करते हैं।"**

उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त विद्यालय को **मिश्रित संगठन** कहने वाले **जे० कैली** (J. Kelly) के अनुसार—**"विद्यालय का वातावरण सभी सामाजिक गतिविधियों से प्रभावित होता है तथा अन्य औपचारिक संगठनों के समान, विद्यालय संगठन का सम्बन्ध, उसके रचना सम्बन्धी कार्यों, प्रबन्धकीय तथा सभी मानवीय एवं भौतिक साधनों को संयुक्त रूप में निर्देशन प्रदान करना होता है।"**

वस्तुतः, विद्यालय में अनेक व्यक्ति मिलकर अपना कार्य करते हैं। विद्यालय की अर्थव्यवस्था, क्रीड़ा, व्यवस्था, भवन-निर्माण, चिकित्सा, पाठ्येतर क्रिया, सामुदायिक कार्य आदि में प्रधानाचार्य, शिक्षक, छात्र, कार्यालय, व्यक्ति, संरक्षक तथा अधिकारीजन सभी सहयोग करते हैं। इन सभी का आपस में सम्बन्ध होता है। एक व्यक्ति की विचारधारा का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। सभी व्यक्तियों के मिले-जुले प्रयासों से विद्यालय की उन्नति होती है। विद्यालय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि दशाओं में भी अनेक व्यक्तियों का योगदान होता है। विद्यालय, एक मिश्रित संगठन के रूप में अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करता रहता है।

2. विद्यालय एक नौकरशाही के रूप में (The School as a Bureaucratic Organization)—प्रशासन के क्षेत्र में 'नौकरशाही' तन्त्र का भी एक प्रमुख स्थान होता है। जर्मन समाजशास्त्री 'वेबर' (Weber) ने तो कहा है कि नौकरशाही अर्थात् कर्मचारियों से सम्बन्धित प्रशासन तथा संगठन ही अधिक सफल होता है। विद्यालय के वातावरण को देखने से यही ज्ञात होता है कि विद्यालय के सम्बन्ध में प्रधानाध्यापक, प्रबन्धक, शिक्षक एवं छात्रों को विद्यालय की सूक्ष्म बातों का इतना अधिक ज्ञान नहीं होता, जितना कार्यालय के कार्णिकों तथा कार्यालय-अधीक्षकों को होता है। विद्यालय की दशा को उन्नत बनाने में कार्यालय के व्यक्तियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि विद्यालय की उन्नति-अवनति एवं सभी कर्मचारियों के कार्यों का लेखा-जोखा कार्यालय में ही होता है। शिक्षा विभाग तथा सरकार से अनेक बातों में जो लिखित कार्यवाही की जाती है, उसका लेखा-जोखा (Record) भी कार्यालय के कर्मचारी ही रखते हैं। विद्यालय के प्रधानाचार्य एवं शिक्षकों के स्थानान्तरण से विद्यालय के वातावरण पर अधिक प्रभाव नहीं होता, किन्तु कार्यालय से सम्बन्धित किसी भी कर्मचारी की अनुपस्थिति विद्यालय के दैनिक कार्यों की गति में भी रुकावट उत्पन्न कर देती है। विद्यालयों में पद क्रमबद्धता (Hierarchy) का प्रचलन भी नौकरशाही तन्त्र को दृढ़ बनाने में सहायक होता है। शिक्षा विभाग में यह तन्त्र अग्र प्रकार देखा जाता है—

शिक्षाधिकारी वर्ग	कार्यालय सम्बन्धी वर्ग
निदेशक	शिक्षा सचिव
↓	↓
उप-निदेशक	निदेशालय के कार्यालय अधीक्षक एवं अन्य सहायक कार्णीक
↓	↓
जिला विद्यालय निरीक्षक	उपनिदेशक कार्यालय अधीक्षक एवं अन्य सहायक कार्णीक
↓	↓
प्रधानाध्यापक	जिला-विद्यालय निरीक्षक, कार्यालय अधीक्षक एवं अन्य सहायक कार्णीक
↓	↓
शिक्षक	विद्यालयों के वरिष्ठ कार्णीक
↓	↓
छात्र	विद्यालय के अन्य कार्णीक एवं कर्मचारी

शिक्षा विभाग के कार्य विभाजन की दृष्टि से, उपर्युक्त वर्गीकरण में, कुछ अन्य कर्मचारियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में और विद्यालयों में यह नौकरशाही तन्त्र अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यहाँ स्थानाभाव के कारण इसके गुण-दोषों पर विचार नहीं किया जा रहा है, केवल नौकरशाही संगठन को समझाने का ही प्रयास किया गया है।

3. विद्यालय एक सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन के रूप में (The School as a Socio-Political System)—विद्यालय को एक सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन के रूप में समझने का प्रयास सर्वप्रथम 'हेथॉर्न तथा पीटर' ने किया। विद्यालय के बाह्य प्रभावकारी तत्त्वों में जहाँ दार्शनिक तथा नैतिक तत्वों की मान्यता है, वहाँ 'सामाजिक' एवं 'राजनीतिक' तत्त्वों को भी मुख्य रूप में समझा जाता है। विद्यालय पर समाज का प्रभाव अवश्य पड़ता है। विद्यालय को समाज का लघु रूप कहा जाता है। इसका कारण भी यही है कि समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला विद्यालय ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त करता है। विद्यालय की प्रबन्धकारिणी समिति में भी समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं। इन व्यक्तियों का उद्देश्य अपने विद्यालय को अधिक सामाजिक बनाने का होता है। शिक्षक भी विद्यालय में पढ़ाने के अतिरिक्त समाज के व्यक्तियों से सम्बन्धित होते हैं। विद्यालयों की अनेक वार्षिकोत्सव, क्रीड़ा, नाटक, कवि सम्मेलन, विचार मंच आदि क्रियाओं में, सम्पूर्ण विद्यालय को एक सामाजिक संगठन के रूप में ही कार्य करना पड़ता है। वास्तव में, विद्यालय की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य छात्रों को, सामाजिक सम्बन्धों में, उत्तम नागरिक बनाना है। यही कारण है कि समाज की अनेक कुरीतियों, जैसे दहेज प्रथा उन्मूलन, अस्पृश्यता निवारण, साक्षरता आन्दोलन, सामाजिक सेवा (N. S. S.) एवं समाज में आकस्मिक उत्पन्न संकटकालीन परिस्थितियों यथा भीषण अकाल, अनावृष्टि, बाढ़, अग्निकांड, युद्ध विभीषिका आदि में विद्यालयों का योगदान समाज के अन्य सामाजिक संगठनों की भाँति महत्त्वपूर्ण ही होता है। ऐसे अवसरों पर विद्यालयों को बन्द करके छात्रों तथा शिक्षकों को सामाजिक कार्यों में भाग लेने के लिए उत्साहित किया जाता है।

विद्यालय, राजनीतिक संगठन के रूप में प्रभावशील होते हैं। देश की सम्पूर्ण शिक्षा में सरकारी एवं गैर-सरकारी दोनों प्रकार के विद्यालयों की भूमिका होती है। प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर की शिक्षा में सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठन कार्य करते हैं। सरकारी अर्थात् राजकीय विद्यालयों में सरकारी आदेशों का पालन शीघ्रमेव होता है। इन विद्यालयों का तन्त्र तथा वातावरण तथा कर्मचारियों की सेवा के नियम आदि सरकारी कर्मचारियों के समान ही होते हैं। सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त, इन विद्यालयों के शिक्षकों पर अन्य किसी राजनीतिक संगठन का प्रभाव नहीं देखा जाता। गैर-सरकारी अर्थात् अराजकीय विद्यालयों में अनेक

राजनीतिक सगठनो का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। डी० ए० वी०, सनातन धर्म, गुरु नानक, तेगबहादुर, इस्लामिया, महावीर सदन, सेण्ट मेरी, सोफिया आदि नाम वाले विद्यालयो मे आर्य समाज, सनातन धर्म, सिक्ख, मुस्लिम, जैन, ईसाई आदि धर्मो की राजनीति का ही प्रभाव होता है। इनके अतिरिक्त भी प्राथमिक एवं पूर्व प्राथमिक विद्यालयो 'सरस्वती शिशु मन्दिर, शिक्षा सदन, होली चिल्ड्रन होम' आदि अनेक संस्थाएँ, ऐसी होती है, जिनमें उन संस्थाओं के संस्थापक, अपनी विचारधाराओं को ही थोपने का प्रयास करते है। राजनीति के कुशल खिलाड़ी तो विद्यालयो की स्थापना, अपने राजनीतिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही करते है। इस प्रकार राजनीतिक प्रभाव से विद्यालयो को बचाना, एक कठिन कार्य प्रतीत होता है।

उपर्युक्त राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त छात्र विद्यालयों में निर्मित छात्र परिषदों एवं विभिन्न कार्यों की समितियों मे रहकर भी राजनैतिक प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते हैं। छात्र परिषदो के चुनावों में प्रत्याशी के रूप में खड़े होकर, चुनाव प्रक्रिया को समझकर तथा शिक्षक वर्ग के साथ विद्यालय की विभिन्न क्रियाओं में भाग लेकर, छात्र राजनीति की मूल बातों को समझ जाते हैं। विद्यालयों में शिक्षक संघों, कर्मचारी संघों, प्रबन्ध समितियों के समूहों के निर्वचनों तथा उनकी गतिविधियों को भी छात्र खुली आँखों से देखते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे वे प्रशिक्षित होते रहते हैं। छात्र जीवन के कुशल नेता ही आगे चलकर देश तथा समाज की राजनीति में हाथ बटाते हैं। शिक्षा के अन्य उद्देश्यों के अतिरिक्त, छात्रों को कुशल नेतृत्व की शिक्षा प्रदान करने का उत्तरदायित्व विद्यालयों पर ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यालयों की राजनीतिक संगठन के रूप में भी प्रमुख भूमिका होती है।

4. विद्यालय एक प्रणाली के रूप में (The School as a System)—विद्यालय को प्रणाली के रूप में मानने वालों में **टी० पार्सन** तथा **एडवर्ड शिल्ज** का नाम प्रमुख है। वास्तव में, प्रणाली सिद्धान्त विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान को स्वीकृत करने का पक्षपाती है। यह सिद्धान्त प्रत्येक विद्यालय के लिये उपयोगी होता है। प्रणाली के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचारकों के कथन उल्लेखनीय हैं—

(i) अनविन–प्रणाली विभिन्न अंगों का वह योग है, जो स्वतन्त्र एवं सामूहिक रूप से कार्य करते हुए, अपनी आवश्यकताओं पर आधारित, वांछित परिणामों को प्राप्त कर सके।

(ii) जोहन्स होपकिन्स–प्रणाली अन्तरक्रिया युक्त अवयवों का एक ऐसा स्वीकृत समूह है, जिसका निर्माण, पूर्वनिर्धारित कार्यों को सहयोगात्मक रूप से विकास करने के लिए किया जाता है।

विद्यालय भी एक प्रणाली के रूप में होता है। विद्यालय के अन्तर्गत शिक्षक, प्रधानाचार्य, छात्र एवं अन्य कर्मचारी, अवयवों (Parts) के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हैं। ये सभी अवयव अपना-अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं, इनका एक-दूसरे से अन्तर सम्बन्ध भी होता है। इन सभी अवयवों का कार्य एक साथ मिलकर विद्यालय प्रशासन को उन्नत बनाना होता है।

5. विद्यालय एक सामाजिक प्रणाली के रूप में (The School as a Social System)— विद्यालय को आधुनिक युग में एक सामाजिक प्रणाली के रूप में देखा जाता है। 'साइमन', तालकोट पार्सन्स एवं अन्य प्रसिद्ध विचारकों ने विद्यालय को एक 'सामाजिक प्रणाली' मानकर गहन विचार किया है। किसी भी सामाजिक प्रणाली के लिए व्यक्तियों के अन्तरक्रिया सम्बन्ध की अत्यन्त आवश्यकता होती है। विद्यालय में भी कार्य करने वाले व्यक्ति अपना कार्य करते हैं तथा एक-दूसरे के व्यक्तित्व से भी प्रभावित होते रहते हैं। इस सम्बन्ध में **'बेमबेक'** के अनुसार, **''विद्यालय के अन्तर्गत मानवीय अन्तरक्रिया सम्बन्ध को ही सामाजिक प्रणाली कहा जाता है।''** जिस प्रकार समाज के अन्य क्षेत्रों में 'मिश्रण अवस्था' तथा 'सामाजिक प्रणाली' उपयोगी सिद्ध हुई है, उसी प्रकार सामाजिक प्रणाली शिक्षा के क्षेत्र को उन्नत बना सकेगी। इस सम्बन्ध में **'तालकोट पार्सन्स'** का कथन भी उल्लेखनीय है—''शिक्षा को अन्य संयुक्त संगठनों की तरह तकनीकी, प्रबन्धकीय एवं संस्थागत प्रणाली के मिले-जुले रूपों में ही समझा जाना चाहिए।'' इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा का लक्ष्य तभी पूरा होता है, जब वह सभी संगठनों के साथ मिलकर चलती है।

विद्यालय को एक 'मुक्त-प्रणाली' (Open System) के रूप में स्वीकार किया जाता है। मुक्त प्रणाली, उसी प्रणाली को कहा जाता है, जिसके अन्तर्गत बालक नवीन ज्ञान तथा गुणों को अधिक उदारतापूर्वक सीख सके। इस प्रणाली में सीखने के क्षेत्र में पर्याप्त स्वतन्त्रता होती है। विद्यालय में भी बालक अनेक बातों को उदारतापूर्वक सीखता है। विद्यालय का सम्बन्ध, समाज की आवश्यकताओं से घनिष्ठ रूप में होता है। बालक भी विद्यालय में रहकर नवीन ज्ञान को रुचिपूर्वक सीखता है। विद्यालयों में मुक्तावस्था (Openness) या संकीर्ण अवस्था (Closed System) को नियन्त्रित रूप में ही रखा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे **'किम्ब्रो'** का मत विचारणीय है—''अत्यधिक मुक्तावस्था विद्यालयों के अन्दर उपद्रव को जन्म दे सकती है तथा मुक्तावस्था की कम मात्रा विद्यालय के प्रत्ययों पर नकारात्मक प्रभाव डालती है, जिससे विद्यालय को आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण के अनुकूल बनाने में असुविधा होती

है।'' 'किम्बो' के अनुसार, किसी भी विद्यालय के सम्पूर्ण वातावरण में, उसी मात्रा तक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जहाँ तक बालक अनुशासित होकर अच्छे गुणों की प्राप्ति कर सके।

प्रश्न 2—विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन का अर्थ स्पष्ट कीजिए। शिक्षा में विद्यालय संगठन/ व्यवस्थापन की आवश्यकता उद्देश्य एवं प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–

विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन का अर्थ
(Meaning of School Organisation)

विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन उन भौतिक तथा मानवीय साधनों के सुव्यवस्थित समूह द्वारा ऐसी संस्था को अस्तित्व में लाना है, जहाँ शिक्षा के बहुमुखी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उपयोगी तथा क्रियात्मक वातावरण का निर्माण हो सके। 'विद्यालय' नाम की संस्था को अस्तित्व प्रदान करना कुछ दिनों का कार्य नहीं है। इसके लिए लम्बे समय तक कई व्यक्तियों को प्रयत्न करना पड़ता है। विद्यालय कहाँ पर खुलना है, उसके लिए कितना स्थान चाहिए, कितने कमरों का प्रबन्ध करना होगा, कार्यालय किस स्थान पर होगा, खेल के कितने मैदान तथा कहाँ होने चाहिएँ, शिक्षण उपकरणों की व्यवस्था कहाँ से करनी चाहिए आदि की निश्चित योजना तैयार कर तथा उनकी निश्चित व्यवस्था करके विद्यालय को अस्तित्व में लाया जा सकता है। विभिन्न स्टाफ, मुख्य शिक्षक, विभिन्न विषयों के शिक्षक, चपरासी, क्लर्क आदि की नियुक्ति करनी होती है। ये सभी कार्य होने के बाद ही विद्यालय अस्तित्व में आता है। अतः विभिन्न भौतिक तथा मानवीय साधनों के संगठित समूह द्वारा 'विद्यालय' को अस्तित्व प्रदान करने को 'विद्यालय संगठन' कहते हैं। एक बार 'विद्यालय संगठन' हो जाने के बाद संगठन का कार्य समाप्त नहीं होता।

वार्गीस टी० पॉल के अनुसार—''विद्यालय संगठन का प्रमुख आधार उचित वर्गीकरण तथा श्रम का उचित विभाजन है। शिक्षक का कक्षा के साथ, कक्षा का कमरे के साथ, छात्रों का पाठ्य-विषयों तथा शिक्षण-पद्धतियों के साथ समायोजन होना तथा समय का उचित विभाजन होना आदि ऐसी बातें हैं, जो विद्यालय का संगठित स्वरूप बनाने में सहायक हैं।''

विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन की आवश्यकता
(Need of School Organisation)

शिक्षा के व्यापक एवं तात्कालिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधनों (मानवीय तथा भौतिक) के प्रबन्ध तथा उनके नियमित और क्रियात्मक प्रयोग के लिए विद्यालय संगठन अत्यन्त आवश्यक है। **श्री पी० सी० रैन** (P. C. Wren) ने विद्यालय संगठन की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहा है, ''छात्रों के हित के लिए, उसकी योग्यताओं को प्रशिक्षित करने के लिए, उसके दृष्टिकोण को व्यापक बनाने के लिए, उसके मन का रचनात्मक विकास करने के लिए, उसके चरित्र का सशक्त निर्माण करने के लिए, उसकी सौन्दर्यानुभूतियों को विकसित करने के लिए, उसे शारीरिक स्वास्थ्य एवं शक्ति प्रदान करने के लिए, उसे अपने समुदाय तथा राज्य के प्रति अपना कर्त्तव्य समझाने के लिए स्कूल का गठन करो—केवल मैट्रिक की परीक्षा के लिए उसे तैयार करने हेतु विद्यालय का गठन मत करो।''

विद्यालय संगठन/व्यवस्थापन के उद्देश्य
(Objectives of School Organisation)

बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिये विद्यालय का निर्माण किया जाता है। यों तो उद्यानों में, पेड़ों के नीचे, घरों में, मन्दिरों आदि में भी शिक्षा प्रदान की जा सकती है, परन्तु शिक्षा से आज जिन व्यापक उद्देश्यों की अपेक्षा की जाती है और उसके लिए जिन क्रियाओं के संचालन की माँग की जाती है, उनके उचित प्रबन्ध के लिए विद्यालय नाम की संस्था को सभी आवश्यक साधनों, भौतिक एवं मानवीय से युक्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

विद्यालय संगठन के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

1. शिक्षा के आदर्शों तथा उद्देश्यों की स्पष्ट जानकारी देना।

2. योग्य, अनुभवी तथा दायित्व की भावना से सम्पन्न मुख्याध्यापक तथा वांछित गुणों से सम्पन्न सुशिक्षित एवं प्रशिक्षित अध्यापकों को नियुक्त करना।

3. विद्यालय संचालन के लिए कुशल प्रशासन की व्यवस्था करना।

4. अध्यापको एवं छात्रो के लिए उपयोगी एवं व्यावहारिक फर्नीचर की व्यवस्था करना।

5. शिक्षण-कार्य के लिए आवश्यक उपकरणो—ब्लैक-बोर्ड, चाक, श्रव्य-दृश्य (Audio-Visual) साधनो की व्यवस्था करना।

6. मुख्याध्यापक के कार्यालय के लिए उपयोगी उपकरणो का प्रबन्ध करना।

7. छात्रो तथा अध्यापको के कार्यो का रिकॉर्ड रखने के लिए उचित रजिस्टरो की व्यवस्था करना।

8. पाठ्य-क्रियाओ तथा पाठ्य-सहायक क्रियाओं (Co-curricular activities) के सुसंचालन के लिए पर्याप्त उपकरण जुटाना।

9. विद्यालय को हर प्रकार की प्रतिकूल आलोचनाओं से सुरक्षित रखना।

10. विद्यालय और समुदाय मे स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करना।

11. विद्यालय पुस्तकालय की व्यवस्था करना।

12. विद्यालय के वित्तीय-प्रबन्ध को नियमानुसार चलाना अर्थात् आय और व्यय का दैनिक हिसाब रखना।

विद्यालय संगठन का प्रायोजन (Purpose of School Organisation)—शिक्षा की समस्त क्रियाओं का एक प्रयोजन सभी जगह होता है कि बालकों को इस प्रकार शिक्षित किया जाये, जिससे कि उनका सर्वांगीण विकास हो। इसलिए विद्यालय संगठन का भी सबसे प्रमुख प्रयोजन बालकों को उपयोगी शिक्षा प्रदान करना है। संगठन द्वारा विद्यालय के प्रत्येक अंग को सक्रिय बनाया जाता है। विद्यालय तथा विद्यालय में दी जाने वाली शिक्षा को प्रभावी बनाने हेतु विद्यालय संगठन में आवश्यक बातों पर ध्यान रखना पड़ता है। जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में विद्यालय संगठन हेतु शिक्षक, जनता तथा शासन तीनों का सहयोग अपेक्षित है। शिक्षक एकता तथा लगन से विद्यालय स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करें, शिक्षकों, विद्यालयों तथा प्राचार्य के सम्बन्ध मधुर हों, विद्यालय के शिक्षकों की ज्ञान-गरिमा या कार्य-पद्धति की अभिभावक भी प्रशंसा करें तभी विद्यालय समाज में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। सभी विद्यालयों को समाज में अपना अस्तित्व सिद्ध करना पड़ता है। समाज तथा विद्यालय में घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'विद्यालय संगठन' के प्रयोजन के सम्बन्ध में '**शिक्षा बोर्ड**' ने लिखा है—"प्रत्येक सरकार के विद्यालय का मुख्य प्रयोजन बालकों के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास करना है। विद्यालय बालकों के व्यक्तित्व विकास के लिए इस प्रकार सहायता प्रदान करे कि वे समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को विकसित कर सकें।"

जनतन्त्रीय प्रणाली में विद्यालय संगठन शासन की उपेक्षा भी नहीं कर सकता। शासन के आदेशों का पालन करते हुए भी विद्यालय अपने निश्चित उद्देश्य की ओर आगे बढ़ता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विद्यालय संगठन का मुख्य प्रयोजन बालकों को उत्तम शिक्षा प्रदान करना है। साथ ही शिक्षक, जनता तथा शासन की दृष्टि से भी उसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करना होता है।

प्रश्न 3—विद्यालय प्रबन्ध (स्कूल प्रबन्धन) से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में स्पष्ट कीजिए। विद्यालय प्रबन्ध के महत्त्व की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर—

विद्यालय प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of School Management)

शिक्षा प्रणाली की विद्यालय मूल इकाई होती है और विद्यालय प्रबन्धन की मूल इकाई कक्षा होती है। कक्षा में देश के भाग्य का निर्माण होता है। शिक्षा द्वारा भारतीय संस्कृति की सुरक्षा के अतिरिक्त भविष्य के विकास का प्रयास किया जाता है। शिक्षा सदैव भविष्य के लिये दी जाती है। जीवन की तैयारी शिक्षा द्वारा की जाती है जिससे समाज में अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान प्राप्त कर सके। कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) में इसी प्रकार की संस्तुतियाँ दी गईं। भारत एक प्रजातंत्र देश है इसमें शिक्षा का प्रबन्धन इस प्रकार किया जाए जिससे प्रजातांत्रिक मूल्यों तथा गुणों का विकास किया जा सके। विद्यालय की सफलता का आंकलन भी इसी आधार पर किया जाता है कि कहाँ तक मानवीय मूल्यों के विकास में विद्यालयों ने योग किया है। इसके लिये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना होगा जिससे शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण करना होगा। विद्यालय प्रबन्धन का ऐसा प्रारूप विकसित करना होगा जिससे राष्ट्रीय मूल्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकें।

शिक्षण-व्यवसाय (Teaching Profession) मे प्रबन्धन का विशेष महत्त्व है। शैक्षिक प्रबन्धन की अवधारणा को हम निम्न प्रकार से स्पष्ट करते है—

1. शिक्षण एक व्यवसाय है-हैने (Heney) के शब्दो मे—"व्यवसाय वस्तुओं तथा सेवाओं के उस नियमित क्रय-विक्रय, हस्तान्तरण अथवा विनिमय को कहते है जो लाभ कमाने के लिये किया जाता है।"

Management is the coordination of all resources through the process of planning, organizing, directing and controlling in order to attain stated objectives.

इस परिभाषा के अनुसार शिक्षा एक व्यवसाय है। इसमें शिक्षक अपने ज्ञान तथा कौशल की सेवायें, धन के बदले छात्रों को देता है। छात्र, शिक्षा द्वारा प्रदान किये गये ज्ञान तथा कौशल का उपयोग करके अपनी क्षमताओं का विकास करते हैं। व्यवसाय मे क्रय-विक्रय, विनिमय, सेवाओ का लेन-देन, लाभ, प्रयोजन तथा प्रतिफल की अनिश्चितता, जोखिम एवं विनिमय में निरन्तर के लक्षण पाये जाते है। उद्योग तथा व्यवसाय में, लाभ उत्पादक को मिलता है। शिक्षा में उक्त सभी लक्षण पाये जाते हैं किन्तु इसमे जोखिम कम है। इसका लाभ व्यक्ति तथा समाज को मिलता है।

(2) शिक्षा एक प्रबन्धन (Management) है—शिक्षा, यद्यपि जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की सफलता उत्तम प्रबन्धन पर निर्भर करती है। यदि प्रबन्ध निरंकुश हो तो शिक्षा की प्रक्रिया में अवरोध आयेंगे। यदि वह अधिनायकवादी है तो एक व्यक्ति या संस्था का वर्चस्व रहेगा। यदि मुक्त है तो अराजकता की सम्भावना बढ़ेगी। **आलीवर शैल्डेन** के शब्दों में—"प्रबन्धन, उद्योग (विद्यालय तथा शिक्षा) की वह जीवनदायिनी शक्ति जो संगठन को शक्ति देता है, संचालित करता है एवं नियन्त्रित करता है।" इसी प्रकार **थियोहेमेन** ने लिखा है—"प्रबन्धन एक विज्ञान के रूप में, प्रबन्धन एक उच्च स्तरीय प्रबन्धक समूह के रूप में तथा प्रबन्धन एक विज्ञान के रूप में व्यक्त किया जाता है।" दूसरे शब्दों में प्रबन्धन एक कार्यकारी समूह है। यह समूह कार्य का संचालन, निर्देशन, नियन्त्रण एवं समन्वय करता है। इसलिये वह (प्रबन्धक) प्रशासक कहलाता है। प्रबन्धक या प्रशासक कहलाता है। प्रबन्धक या प्रशासक छः तत्त्वों (1) मानव (2) मशीन (3) माल (4) मुद्रा बाजार (5) प्रबन्धन (6) तथा संगठन का समन्वय करता है। **पीटर ड्यूकर** के अनुसार—"प्रबन्धक, प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक तथा जीवनदायी अवयव है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पादन के साधन, केवल साधन मात्र ही रह जाते हैं, कभी उत्पादन नहीं बन पाते हैं।"

विद्यालयी प्रबन्धन में मानव (शिक्षक, छात्र) मशीन (विद्यालयी उपकरण) माल (शैक्षिक प्रक्रिया) तथा निष्पत्ति, मुद्रा बाजार (शुल्क अर्थव्यवस्था तथा मानव-शक्ति नियोजन), प्रबन्धन (समन्वय) तथा संगठन (प्रबन्धक, प्रधानाचार्य, शिक्षक, कर्मचारी, छात्र, अभिभावक, साधन) आदि निहित हैं। इन सबको गतिशील बनाये रखने में प्रबन्धक की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

विद्यालय प्रबन्ध एक विशेष क्रिया है। मानव समूह तथा संस्थाओं के संचालन के लिये अर्थात् विद्यालय के कर्मियों तथा विद्यालयी संस्था के संचालन के लिये शैक्षिक प्रबन्धन का होना अत्यन्त आवश्यक है। उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में व्यवस्था की यह प्रक्रिया प्रबन्धन कहलाती है तो शिक्षा के क्षेत्र में यह प्रक्रिया प्रशासन कहलाती है। प्रशासन की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने पद के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। इसलिये प्रबन्धन तथा प्रशासन को समानार्थी कहा जाता है। प्रचलित अवस्था में 'प्रबन्धन' शब्द उद्योग तथा व्यवसाय के क्षेत्र में उपयोग किया जाता है।

विद्यालय प्रबन्ध का महत्त्व
(Importance of School Management)

किसी भी विद्यालय को गतिशील करने के लिए प्रबन्ध का महत्व तथा भूमिका इंजन के समान होती है। जिस प्रकार कोई मोटर गाड़ी इंजन के अभाव में गतिमान नहीं हो सकती है उसी प्रकार उचित प्रबन्ध के अभाव में विद्यालय का प्रभावी संचालन सम्भव नहीं है। अतः विद्यालय में प्रबन्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, इसके महत्त्व को हम निम्नलिखित विवरण के माध्यम से समझ सकते हैं—

विद्यालय के कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिए विद्यालय प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। विद्यालय एक सामाजिक संस्था है, उसे एक विशेष उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। विद्यालय में विद्यार्थी समाज के सदस्यों के रूप में अध्ययन करते हैं। वास्तव में विद्यालय का प्रमुख केन्द्र विद्यार्थी है। विद्यार्थी के बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक है कि विद्यालय में योग्य अध्यापक, उपयुक्त भवन, उपयुक्त खेल-कूद की व्यवस्था, उचित पाठ्य-सामग्री आदि का सुव्यवस्थित प्रबन्ध हो। यदि इन बातों को पूरा नहीं किया गया तो विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता है। इस प्रकार विद्यालय प्रबन्ध विद्यालय की आत्मा है। बिना उचित प्रबन्ध

के समस्त साधनों के होते हुए भी स्कूल एक प्रकार से निर्जीव शरीर के समान है। किसी विद्यालय के अन्दर पर्याप्त मात्रा में विद्यार्थी हो, योग्य अध्यापक हों तथा अन्य पढ़ने-लिखने के पर्याप्त साधन होने के साथ-साथ उचित व्यवस्था का होना भी आवश्यक है, परन्तु बिना उचित विद्यालय-व्यवस्था के शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल सकती।

प्राचीन काल में प्रबन्ध का स्वरूप तानाशाही था। विद्यार्थियों को केवल पढ़ने के लिए ही प्रेरित किया जाता था। फलतः विद्यालय का वातावरण आतंकपूर्ण तथा अनुशासनहीनता से परिपूर्ण था, परन्तु अब देश में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली को अपना लिया गया है अतः विद्यालय प्रबन्ध के रूप में भी अन्तर आ गया है।

अब विद्वान् इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि विद्यालय प्रबन्ध को जटिल न बनाकर गतिशील बनाना चाहिए, जिससे कि वह समाज की परिवर्तित आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। जहाँ विद्यालय प्रबन्ध स्थिर तथा परम्परागत होता है, वहाँ पर निरंकुशता, कठोरता तथा दमन की प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार का प्रबन्ध स्कूल को यन्त्र बना देता है। स्वतन्त्रता से पूर्व इसी प्रकार के प्रबन्ध को महत्त्व दिया जाता था। ➤

प्रश्न 4—विद्यालय प्रबन्धन के क्षेत्र की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

अथवा

विद्यालय प्रबन्धन से क्या आशय है? इसके अभिलक्षणों तथा विस्तारक्षेत्र का विवेचन कीजिए।

उत्तर-

विद्यालय प्रबन्धन का क्षेत्र
(Scope of School Management)

विद्यालय प्रबन्धन के क्षेत्र का अर्थ होता है—शिक्षा प्रबन्धन का विस्तार तथा कार्य क्षेत्र जहाँ पर शिक्षण-अधिगम का सम्पादन किया जाता है। आधुनिक समय में शिक्षा प्रबन्धन के कार्यक्षेत्र का विस्तार अधिक व्यापक हो गया है। शिक्षा के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने वाली प्रत्येक क्रिया शिक्षा प्रबन्धन का अंग होता है। इस प्रकार की प्रत्येक क्रिया का संचालन विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत किया जाता है। शिक्षा की गुणवत्ता के लिये उपकरणों, पुस्तकों, मानव शक्ति तथा आर्थिक स्रोतों की आवश्यकता होती है। उच्च सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना शिक्षा प्रबन्धन का उत्तरदायित्व होता है। इन बातों को ध्यान में रखकर शिक्षा प्रबन्धन के क्षेत्र तथा विस्तार का विवेचन किया जाना चाहिए। विद्यालय प्रबन्धन के क्षेत्र का अध्ययन चार घटकों में किया जा सकता है। ये घटक निम्न प्रकार हैं—

(1) शिक्षा के विकास का लक्ष्य (Goal Development)—शिक्षा प्रबन्धन एक सार्थक तथा उद्देश्यपूर्ण क्रिया है। समाज की उप-प्रणाली होती है। इसलिये समाज शिक्षा प्रबन्धन के लिये मानवी तथा अन्य स्रोतों की सुविधायें प्रदान करता है। परन्तु समाज की कुछ अपेक्षायें प्रक्रिया होती हैं जिन्हें विकास का लक्ष्य कहते हैं। समाज एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है इसलिये उसकी अपेक्षायें भी बदलती रहती हैं। विद्यालय प्रबन्धन द्वारा इन अपेक्षाओं की भी पूर्ति करनी होती है। इस प्रकार शिक्षा प्रबन्धन की प्रणाली में सतत् नियोजन, व्यवस्था तथा आंकलन क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिससे शिक्षा के समुचित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है।

(2) नियोजन के कार्यक्रम (Programme of Planning)—नियोजन का अर्थ होता है कार्यों के सम्पादन का प्रारूप विकसित करना। विद्यालय के आरम्भ करने से पूर्व सम्पूर्ण कार्यों की रूपरेखा बनाना होता है जिसे नियोजन कहते हैं। इसमें निर्णय लेने होते हैं कि विद्यालय में कौन-कौन से पाठ्यक्रमों को आरम्भ किया जायेगा और उनके लिये आवश्यक उपकरणों, पुस्तकों, शिक्षकों तथा अन्य स्रोतों के लिये आर्थिक साधन उपलब्ध कराने होंगे। इसके अतिरिक्त नियोजन अन्य विकल्पों का भी आकलन करना होता है। नियोजन में उत्तम विकल्प का चयन अपने संसाधनों के अनुरूप करना होता है। इसके बाद ही प्रबन्धन का कार्य आरम्भ किया जाता है।

शिक्षा आयोग (1964-66) के अनुसार नियोजन की दो अवस्थाओं को बताया गया है— (1) राष्ट्रीय तथा (2) राज्य स्तर पर। इस प्रकार के नियोजन में स्थानीय समस्याओं तथा आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखा जाता है। केन्द्रीय विद्यालय तथा राज्य स्तरीय विद्यालय के प्रबन्धन का प्रारूप एक-सा ही होता है। इनके नियोजन में शिक्षाविदों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। प्रशासनिक अधिकारी ही नियोजन करते हैं। महाविद्यालयों का नियोजन प्रबन्ध समिति द्वारा किया जाता है। प्राचार्यों की नियुक्तियाँ संचालन के लिये की जाती हैं नियोजन में उन्हें सम्मिलित नहीं किया जाता है।

विद्यालय प्रबन्धन के लक्ष्यो तथा उद्देश्यों का प्रतिपादन प्रबन्ध समिति द्वारा किया जाता है। आधुनिक समय में स्व: पोषित विद्यालयो तथा महाविद्यालयो की स्थापना धनोपार्जन के लिये की जाती है। किन पाठ्यक्रमों मे छात्र अधिक से अधिक अनुदान दे सकते है। शैक्षिक-वातावरण तथा स्तर पर कोई ध्यान नही दिया जा रहा है। आज समाज, समाज का ही शोषण शिक्षा प्रबन्धन के माध्यम से कर रहा है, जबकि शिक्षा प्रबन्धन समाज के उत्थान तथा विकास के लिये किया जाता रहा है।

(3) कार्यक्रमों की व्यवस्था करना (Organization)—शिक्षा व्यवस्था एक मुख्य समस्या रही है। शिक्षा तंत्र का सचालन तथा नियत्रण करना एक अहम् समस्या इसलिये है, इस पर राजनैतिक दबाव, तथा प्रशासनिक हस्तक्षेप अधिक होने लगा है। इसलिये शिक्षा व्यवस्था अपग होती जा रही है। जिन्हें शिक्षा के क्षेत्र का कोई अनुभव नहीं है ऐसे ही व्यक्तियो का हस्तक्षेप अधिक हो गया है।

विद्यालय व्यवस्था का अर्थ होता है कि नियोजन के अन्तर्गत जिस प्रारूप को विकसित किया जाता है उसका वास्तविक रूप मे कार्यान्वयन किया जाए। परन्तु व्यवस्था स्तर पर उसका प्रारूप बिल्कुल ही बदल जाता है। विद्यालय व्यवस्था के परिवर्तन आवश्यक है क्योंकि उसे समय के अनुरूप बदलना चाहिए। शिक्षा की व्यवस्था भविष्य की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर की जानी चाहिए। आधुनिक तकनीकी अधिनियमों को भी ध्यान मे रखना चाहिए। कार्यो के सम्पादन मे समन्वय भी हो। विद्यालय व्यवस्था को एक इकाई के रूप में क्रियाशील होना चाहिए।

(4) प्रबन्धन के कार्यों का आंकलन करना (Assessment)—विद्यालय प्रबन्धन की प्रभावशीलता का आंकलन उद्देश्यो की दृष्टि से किया जाना चाहिए। विद्यालय का आंकलन छात्रों की उपलब्धियों तक ही सीमित नहीं रखा जाए। यद्यपि यह मानदण्ड ही अधिक प्रयुक्त किया जाता है। विद्यालय का स्तर छात्रों की उपलब्धियों, परीक्षा परिणामों से निर्धारित होता है। विद्यालय प्रबन्धन के अन्तर्गत जिन कार्यों का नियोजन किया गया है उन सभी का आंकलन करने पर ही प्रबन्धन में समुचित विकास तथा सुधार किया जा सकता है।

विद्यालय् प्रबन्धन के आंकलन के लिये समितियों का गठन किया जाना चाहिए। प्रमुख समितियाँ होनी चाहिए—

(1) शिक्षक-परिषद् (Staff Council)

(2) छात्र-परिषद् (Student Council)

(3) शिक्षक-समितियाँ (Teachers Committees)

(4) विशिष्ट-समितियाँ (Special Committees)

(5) सामाजिक-सेवा समितियाँ (Social Committees)

(6) व्यावहारिक-मानदण्ड (Practical Criteria)

इन परिषदों तथा समितियों का गठन विजातियों के सदस्यों को सम्मिलित करके किया जाये। इन्हें आंकलन की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। इन पर प्रबन्ध समिति तथा अन्य दबाव न डाले जायें। इन समितियों को निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिए। जिससे आंकलन क्रिया निरन्तर चलती रहे।

प्रश्न 5—विद्यालय भवन तथा विद्यालय की स्थिति की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

अथवा

एक नये स्कूल भवन की योजना बनाते समय आप भौतिक ढाँचे सम्बन्धी किन-किन बातों का ध्यान रखेंगे।

अथवा

भौतिक संरचना की विशेषताओं का पर्याप्तता, औचित्य तथा प्रयोग के सन्दर्भ में विवेचन कीजिए।

उत्तर–

विद्यालय भवन
(School Building)

विद्यालय भवन में निम्नलिखित भवन होना आवश्यक है—

(1) मुख्य शाला भवन एवं इसके अन्य विभिन्न विषयों के विभागीय कक्ष,

(2) पुस्तकालय एवं वाचनालय,

(3) छात्रावास, एवं प्रयोगशाला,
(4) खेल के मैदान—(अ) हॉकी, (ब) वालीबॉल, (स) फुटबॉल, (द) क्रिकेट, (य) बास्केटबॉल, (र) टेनिस आदि,
(5) शाला उद्यान-बगीचे, लॉन,
(6) कृषि फार्म,
(7) शिक्षको का आवास—(अ) प्रधानाध्यापक के लिए, (ब) शिक्षको के लिए, (स) कार्यालय कर्मचारियों के लिए, (द) सहायक कर्मचारियो के लिए,
(8) अन्य विधियाँ—(अ) रंगशाला, (ब) तैरने के लिए जलाशय, (स) गैस प्लान्ट आदि।

मुख्य शाला भवन

मुख्य शाला भवन के अन्तर्गत भी अनेक कक्षो की आवश्यकता होती है। आवश्यक कक्ष निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

(1) आचार्य कक्ष, (2) कार्यालय भवन,
(3) आगंतुक अतिथि कक्ष, (4) अध्यापक कक्ष,
(5) आलेख स्टोर कक्ष, (6) निर्देशन तथा परामर्श कक्ष,
(7) परीक्षा कक्ष,
(8) विश्राम कक्ष—(अ) लड़कियों के लिए, (ब) लड़कों के लिए,
(9) शौचालय एवं मूत्रालय—(अ) लड़कियों के लिए, (ब) लड़कों के लिए, (स) अध्यापकों के लिए,
(10) खेल कक्ष, (11) स्काउटिंग, गर्ल गाइड, एन० सी० सी० कक्ष,
(12) क्राफ्ट वर्कशॉप, (13) कला भवन,
(14) सभा भवन, (15) विज्ञान प्रयोगशालाएँ,
(16) संग्रहालय, (17) विभिन्न विषयों के विशिष्ट कक्ष,
(18) (अ) इतिहास, (ब) भूगोल आदि।

विद्यालय भवन निर्माण के समय ध्यान देने योग्य बातें—

भवन योजना का प्रारूप

भवन योजना किसी भी प्रकार के भवन के निर्माण के लिए आवश्यक है। वस्तुत: विद्यालय भवन का मास्टर प्लान योग्य अभियन्ता द्वारा स्वीकृत होना चाहिये। इस योजना में निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये—

(अ) वर्तमान छात्र संख्या,
(ब) भावी वर्षों के लिए बढ़ती विद्यार्थी जनसंख्या के लिए कक्ष,
(स) शैक्षिक कार्यक्रमों के लिए कक्ष,
(द) शिक्षेतर प्रवृत्तियों के लिए कक्ष,
(य) विशेष कक्ष।

उपर्युक्त तथ्यों को विशेष रूप से भावी छात्रों की संख्या को ध्यान में रखते हुए योजना निर्मित की जानी चाहिए। जहाँ तक हो दो पारी एवं तीन पारी व्यवस्था से बचा जाए। इकाई लागत (Unit Cost) भी योजना में लगा लेनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि महँगाई निरन्तर बढ़ रही है, अत: संभवत: एक साथ ही भवन निर्माण किया जाए। ऐसी सामग्री का प्रयोग किया जाए जो मूल्य में कम परन्तु अधिक स्थायी हो। जहाँ तक सादगी हो वही श्रेयकर है। मिथ्या साज-सज्जा से बचा जाये। इसमें अमेरिका की नकल न करके भारतीय गृह-निर्माण कला को भी ध्यान में रखना चाहिये।

विद्यालय की स्थिति

यूँ तो विद्यालय की स्थिति भी विद्यालय योजना के अन्तर्गत ही आ जाती है परन्तु इसके महत्त्व को देखते हुए इसे अलग से ही स्पष्ट किया जा रहा है। विद्यालय की स्थिति, नगर में नगरीय सघने आबादी से थोड़ा दूर हो, तो उत्तम रहता है परन्तु प्राय: ऐसा होता नहीं है। उप नगरीय बस्ती एवं देहात मे इस सम्बन्ध मे कोई कठिनाई नहीं होती। इससे छात्रों को स्वच्छ वायु, शोरगुल से दूर, खेलकूद के लिए उपयुक्त क्षेत्र आदि मिल सकेगा। जहाँ आवागमन की सुविधा हो वहाँ वृक्षों के झुरमुट के बीच स्वस्थ वातावरण मे शहर से दूर भी विद्यालय की स्थापना हो सकती है। हमारे प्राचीन विद्यालय प्राय: हरे-भरे वन्य क्षेत्र मे ही स्थापित थे। इनकी कल्पना ही सहज रूप से मन को मोह लेती है।

विद्यालय भवन की नींव का धरातल

धरातलीय सतह जहाँ तक हो ऊँची हो तभी ठीक है। वर्षा के दिनों में पानी आसपास नहीं भरना चाहिए, अन्यथा मच्छर पैदा होने का भय बना रहेगा।

भवन की दिशा

विद्यालय भवन बस्ती से दक्षिण पूर्व दिशा में हो, तो उत्तम है। इसका लाभ यह होगा कि जहाँ शीतकाल में धूप सीधी छात्रों को उपलब्ध होगी, वहाँ ग्रीष्मकाल में सूर्य प्रकाश सीधा भवन में प्रवेश नहीं करेगा और कक्ष तेज हवाओं की दिशा में नहीं होने चाहिए।

विद्यालय सेवाएँ

यथासंभव विद्यालय भवन का निर्माण ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ आवागमन, बिजली, पानी आदि की व्यवस्था सुगमता से उपलब्ध हो, अन्यथा छात्रों एवं शिक्षकों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

भविष्य के विस्तार की संभावनाएँ

जहाँ तक हो भवन विद्यार्थियों की संख्या पर निर्भर करता है तथा छात्र संख्या के अनुसार ही अतिरिक्त क्षेत्र पाठ्येतर प्रवृत्तियों के लिए चाहिए। अमेरिकन नेशनल काउन्सिल ने एक छोटे से विद्यालय भवन के क्षेत्र के बारे में अधोलिखित कहा है कि किसी माध्यमिक विद्यालय भवन के लिए जिसमें 1000 विद्यार्थी हों, 20 एकड़ भूमि तथा प्रति 50 विद्यार्थियों के लिए एक एकड़ अतिरिक्त भूमि उपलब्ध होनी चाहिए।

केन्द्रीय सलाहकार शिक्षा परिषद् (CABE) ने इसी सन्दर्भ में निम्न प्रकार की संस्तुति की है—

छात्रों की संख्या	भवन का क्षेत्र	खेल आदि का क्षेत्र
160	2/3 एकड़	2-3 एकड़
320	1 एकड़	4-5 एकड़
480	1/1/3 एकड़	6-7 एकड़

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने 750 विद्यार्थियों से अधिक बड़े विद्यालय के लिए विद्यालय भवन की संस्तुति नहीं करता। इससे अधिक संख्या वाले विद्यालय प्रशासनिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं होते। इनसे अनेक प्रशासनिक समस्याओं का जन्म होता है।

जहाँ तक हो एक मंजिल का भवन ही उपयुक्त है। पहाड़ी क्षेत्र में यह तथ्य लागू नहीं होता क्योंकि इन क्षेत्रों में समतल मैदान मिलना प्राय: कठिन होता है।

छात्रों हेतु कक्ष

विद्यालय भवन के कमरे जहाँ तक हो सके 40 विद्यार्थियों के हिसाब से बनाए जाने चाहिए। इनका आकार 22×23 फीट हो तो ठीक है। ऊँचाई 16 से 17 फीट हो तथा उपयुक्त प्रकाश एवं हवा की सुविधा भी हो।

अन्य विचारणीय तथ्य

नमी एवं तापमान–यह देखा जाना चाहिए कि कमरो में सील या अधिक गर्मी तो नहीं रहती। अत: ऊँचाई एव ऊँची छत वाले कमरे उपयुक्त रहते हैं।

समय पर देखभाल– विद्यालय भवन से सम्बन्धित निम्नलिखित पक्षो की नियमित रूप से देखभाल होती रहनी चाहिए—

(1) भवन कक्षो की नियमित प्रतिवर्ष सफाई, पुताई, रंग-रोगन आदि।

(2) शौचालय, मूत्रालयों की दैनिक रूप से सफाई।

(3) विद्यालय उद्यान के लॉन, बगीचे की नियमित रूप से देख-रेख हो।

(4) खेल के मैदानो की नियमित रूप से सफाई एवं आवश्यक सुधार।

(5) भवन के फर्नीचर की समय-समय पर गिनती, मरम्मत तथा रंग होता रहना चाहिए आदि।

(6) भवन की साज-सज्जा तथा सुरक्षा रखी जाए।

विद्यालय भवन एवं सौंदर्य

विद्यालय वस्तुत: आदर्श संस्था होती है। यह जितनी अधिक सुन्दर होगी, उतना ही बालक इसके पर्यावरण में रहने के लिये उत्सुक होंगे। प्राकृतिक सुन्दर वातावरण सबसे अधिक उपयुक्त होता है। एक अच्छे विद्यालय भवन के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए—

(1) विद्यालय भवन में एवं इसके आसपास वृक्षारोपण।

(2) विद्यालय भवन के परिक्षेत्र में समतल क्षेत्र का बनाना।

(3) विद्यालय भवन के उद्यान की उपयुक्त देखभाल, सामयिक फूलों का रोपण, घास की समय-समय पर कटाई।

(4) मार्ग के दोनों ओर ईटों की पंक्तियाँ तथा इनकी सफेद रंग से पुताई।

(5) दीवारों की सफेद अथवा ऐसे रंगों से पुताई, जो सादगी का प्रतीक हो। सफेद रंग अधिक उपयुक्त रहता है।

(6) भवन के कमरों को सुन्दर चार्ट एवं चित्रों से सजाना चाहिए।

(7) समुचित स्थानों पर श्यामपट्ट, बुलेटिन बोर्ड, सूचना पट्ट आदि लगाना। ➤

प्रश्न 6—कक्षा-कक्ष प्रबन्धन से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिए तथा कक्षा-कक्ष प्रबन्धन की युक्तियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

कक्षा-कक्ष प्रबन्धन
(Class-room Management)

कक्षा-कक्ष का प्रबन्ध एक शिक्षक का प्रमुख उत्तरदायित्व होता है। शिक्षण प्रदान करने के साथ-साथ यह आशा भी की जाती है कि वह कक्षा को भी सँभालेगा, किन्तु यह दोनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं। एक शिक्षक शिक्षण कार्य में बहुत अच्छा हो सकता है किन्तु कक्षा-कक्ष के प्रबन्ध में असफल हो सकता है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अच्छा कक्षा प्रबन्धन शिक्षण में कुशलता प्राप्त करता है और प्रभावशाली शिक्षण हो सकता है यदि कक्षा का प्रबन्ध कुशलता से किया गया हो।

एक कक्षा में विद्यार्थी और शिक्षक होते हैं। कक्षा एक संगठन है जो शिक्षण के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्थापित होता है। इसकी सफलता का मूल्यांकन विद्यार्थियों की उपलब्धि के स्तर से किया जा सकता है। इसके उद्देश्य उस समय प्राप्त हो सकते हैं जबकि इसको इस प्रकार नियन्त्रित एवं निर्देशित किया जाये कि विद्यार्थी कक्षा-कक्ष के अनुभवों को अपने सीखने के लिए लाभप्रद मानें। कक्षा को नियन्त्रण करने और निर्देशित करने का कार्य शिक्षक का है। शिक्षक अपनी सत्ता एवं नेतृत्व को कुशलतापूर्वक कक्षा के प्रबन्ध के लिए उपयोग करता है।

शिक्षक की सत्ता से तात्पर्य निरंकुश नियन्त्रण नहीं है। शिक्षक सम्पूर्ण कक्षा को अपने विश्वास में लेकर कार्य करता है और प्रत्येक कक्षा के सदस्य का सहयोग चाहता है। किन्तु तब भी वह अपने ज्ञान और स्तर के कारण वरिष्ठ स्थिति में होता है। बिना शिक्षक की सत्ता के उपयोग के कक्षा में शोर-शराबा होने लगता है और विद्यार्थियों का ध्यान शिक्षण में नहीं रहता है। अच्छे शिक्षक

अपनी सत्ता जनतान्त्रिक नेतृत्व के रूप मे प्रयोग करते है। कक्षा समूह के नेता की भाँति शिक्षक अपना प्रभाव डालता है और विद्यार्थियो को निर्देशन देता है। वह कक्षा का प्रबन्धन अपनी वास्तविक रुचि विद्यार्थियों की उन्नति के लिए प्रदर्शित करके करता है।

फिलिप जेक्सन के अनुसार, "कक्षा-कक्ष ऐसा स्थान है जहाँ छात्र अपने जीवन के निर्माण काल का अधिकतर समय व्यतीत करते है। यह वह स्थान भी है जहाँ परीक्षण असफल और सफल होते है। मन बहलाने की बाते पूरी होती हैं, जहाँ नई अन्तर्दृष्टि (Stumbled) मिलती है और कौशलो का प्राप्त किया जाता है। किन्तु यह वह स्थान है जहाँ छात्र बैठते व सुनते हैं, प्रतीक्षा करते है व देखते है। अपने हाथ खड़े करते है, परीक्षाफल पास करते है, पंक्तिबद्ध खड़े होते हैं व अपनी पेंसिल तेज करते है।"

दार्शनिक **जॉन डीवी** के अनुसार, "कक्षा-कक्ष में ऐसी स्थितियाँ होती है जो छात्र की गुणोन्मुख गतिविधियों को आगे बढ़ाती है और बाधा डालती है, प्रेरित करती है अथवा रोक लगाती हैं।"

कक्षा-कक्ष प्रबन्धन की युक्तियाँ
(Strategies for Classroom Management)

शिक्षक कक्षा-कक्ष के प्रबन्धन के लिए अनेक युक्तियों का प्रयोग करता है, उनमे से कुछ प्रमुख हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

1. नियमित कार्य सारणी—(Systematic Work Schedule)—शिक्षक को कक्षा की क्रियाओं का संगठन व्यवस्थित ढंग से करना आवश्यक है। जब विद्यार्थियों को पता होता है कि इस क्रिया के बाद कौन-सी क्रिया करनी है तो वह अच्छा व्यवहार करते हैं। एक शिक्षक जो बिना नियमित कार्य सारणी के कार्य करता है वह कक्षा में भ्रम उत्पन्न कर देता है और विद्यार्थी अशान्त हो जाते हैं।

2. कक्षा आचार (Class Ethics)—एक प्रभावशाली शिक्षक कक्षा आचार या कक्षा संस्कृति विकसित करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्यार्थी सम्पूर्ण घण्टे में शान्त बैठे रहें वरन् यह समझ लें कि कब उन्हें शान्त रहना है और कब वह कुछ शोर-शराबा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, कक्षा आचार वह होता है कि जब शिक्षक कक्षा के कमरे में आये तो सब खड़े हो जायें और शिक्षक को नमस्ते, प्रणाम आदि कहें और शिक्षक उनको उत्तर दे तथा इसके बाद कक्षा शान्त हो जाये। कक्षा उस समय तक शान्त रहे जब तक कि शिक्षक कुछ ऐसी क्रिया में उन्हें न लगाये जिसमें कुछ चलना-फिरना एवं बातचीत करना सम्मिलित हो।

3. शिक्षक की अनुशासन की समस्याओं के प्रति अभिवृत्ति (Teacher's Attitude towards Problems of Discipline)—कक्षा प्रबन्धन में अनुशासन की समस्याओं को सुलझाना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। एक मृदुभाषी शिक्षक अनुशासन पर ध्यान नहीं दे सकता है जबकि एक कठोर शिक्षक विद्यार्थियों को उनके दोष से कहीं अधिक कठोर दण्ड दे सकता है। दोनों कार्य सफल शिक्षक के लिए ठीक नहीं हैं। शिक्षक को न्यायपूर्ण होना चाहिए और उसे न्यायपूर्ण देखना भी चाहिए।

4. अन्त:व्यक्तिगत सम्बन्धों को विकसित करना (Developing interpersonal Relations)—शिक्षकों को अच्छे अन्त:व्यक्तिगत सम्बन्धों को भी विकसित करना आवश्यक है। ऐसा वह अपने व्यवहार द्वारा ही कर सकता है। उसे सहानुभूति रखने वाला तथा दूसरों की ओर संवेदनशील होना चाहिए। उसे विद्यार्थियों के साथ मित्रता का भाव रखना चाहिए किन्तु उनके साथ बहुत अधिक मित्रता भी नहीं करनी चाहिए। यदि वह विद्यार्थियों के साथ बहुत अधिक मित्रता बना लेता है तो वह सम्मान नहीं देते जो उसे शिक्षक के नाते मिलनी चाहिए। ➤

प्रश्न 7—कक्षा प्रबन्धन के घटकों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। कक्षा प्रबन्धन के सक्रिय चर कौन-कौन से हैं?

उत्तर—

कक्षा प्रबन्धन के घटक
(Dimensions of Classroom Management)

कक्षा प्रबन्धन तथा शिक्षण के आयामों की समीक्षा से इसके प्रारूप में अधिक विविधता प्रकट होती है। इन आयामों से कक्षा प्रबन्धन को सामान्य प्रारूप का बोध होता है। इस प्रकार कक्षा प्रबन्धन के मुख्य चार घटक होते हैं जिन पर कक्षा प्रबन्धन का प्रारूप आधारित होता है, वे निम्न प्रकार हैं—

(1) भौतिक वातावरण अथवा भौतिक घटक (Physical Environment and Dimensions)—शिक्षा संस्था की कक्षा एक प्राथमिक इकाई होती है, कक्षाओं से विद्यालय स्वरूप बनता है। भौतिक वातावरण में स्थिति, भवन, मैदान कक्षाओं का

आकार तथा कक्षा मे छात्रो की बैठने को व्यवस्था, कक्षा का प्रकाश, हवा तथा सफाई की व्यवस्था। श्यामपट्ट तथा अन्य सहायक सामग्री के उपयोग की सुविधा शोरगुल से दूरी हो। शिक्षक को इन सभी सुविधाओं का प्रबन्धन करना होता है। इनमें प्राचार्य का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है।

(2) सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटक (Social and Cultural Dimensions)—शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और कक्षा समाज का एक लघुरूप होता है। कक्षा प्रबन्धन में सम्बन्धों का विशेष महत्त्व होता है। सम्बन्धों की अन्त:प्रक्रिया से वातावरण को उन्नत किया जाता है। यह अग्रांकित घटको पर निर्भर होता है—

(i) शिक्षक छात्रो मे पारस्परिक सह-सम्बन्ध,
(ii) छात्रो के परस्पर सम्बन्ध,
(iii) प्राचार्य तथा शिक्षको मे सम्बन्ध, तथा
(iv) शिक्षकों में सम्बन्धों का होना।

एक पुरानी कहावत है कि शिक्षक को अपने शिक्षण विषय का स्वामित्व होना चाहिए तथा अपने छात्रों का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। तब शिक्षण कक्षा प्रबन्धन को समुचित ढंग से कर सकता है।

(3) मनोवैज्ञानिक घटक (Psychological Dimensions)—यह कहावत है तथा सत्य भी है कि बिना अभिप्रेरणा के कोई अधिगम नहीं होता है। अभिप्रेरणा कक्षा प्रबन्धन में सहायक होती है क्योंकि छात्रों को तत्पर तथा सक्रिय रहने में सहायक होती है। शिक्षक कक्षा में छात्रों को शब्दों तथा मुख मुद्राओं से प्रेरणा देता है। जिससे अपेक्षित व्यवहार-परिवर्तन में सहायता मिलती है। उच्च कक्षाओं में शिक्षक छात्रों के आकांक्षा स्तर को उन्नत करता है। शिक्षक की शिक्षण में तल्लीनता छात्रों को अभिप्रेरणा देती है तथा छात्र शिक्षण में अधिक क्रियाशील रहते हैं। कक्षा-प्रबन्धन की प्रभावशीलता का महत्त्वपूर्ण मानदण्ड छात्रों की क्रियाशीलता होता है।

(4) मूल्य तथा आचरण सम्बन्धी घटक (Ethical Considerations or Value Dimension)—कक्षा प्रबन्धन का यह महत्त्वपूर्ण घटक है जिसका सम्बन्ध शिक्षणशास्त्र से अधिक है क्योंकि शिक्षक की भूमिका प्रबन्धन से कहीं अधिक होती है। क्योंकि शिक्षक छात्रों के लिए एक आदर्श होता है जिसका छात्र अनुकरण करते हैं और उच्च मूल्यों को अपनाते हैं। शिक्षक को वास्तव में शिक्षक जैसा ही होना चाहिए। शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करना चाहिए। शिक्षक सदैव शिक्षक ही रहता है। शिक्षक का प्रत्येक व्यवहार छात्रों को प्रभावित करता है। कक्षागत मूल्यों का भावनात्मक विश्वासों का विकास करता है।

कक्षा प्रबन्धन के सक्रिय चर
(Operative Variables of Classroom Management)

कक्षा प्रवन्धन में तीन चर सक्रिय रहते हैं—

(1) शिक्षक स्वतन्त्र सक्रिय चर (Independent Operative Variable),

(2) छात्र आश्रित सक्रिय चर (Dependent Operative) तथा

(3) हस्तक्षेप सक्रिय चर (Intervening Operative Variables)।

शिक्षक कक्षा प्रबन्धन का मुख्य चर होता है जो स्वतन्त्र रूप से सक्रिय रहता है परन्तु उद्देश्यों तथा मान्यताओं की सीमाओं में कार्य करता है। छात्र शिक्षक की क्रियाओं पर आश्रित होते हैं जैसा शिक्षक पढ़ायेगा वैसा ही छात्र सीखेगा। इनकी अंत:प्रक्रिया को पाठ्यवस्तु उद्देश्य शिक्षण विधियाँ प्रविधियाँ, कक्षा का भौतिक वातावरण तथा सहायक प्रणाली हस्तक्षेप करती है। इन्हीं के माध्यम से शिक्षक पढ़ाता है और छात्र सीखते हैं। ➤

प्रश्न 8—प्रधानाचार्य/प्राचार्य के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

अथवा

मुख्याध्यापक के विशेष गुणों का विवेचन कीजिए। सत्ता के हस्तान्तरण की व्याख्या कीजिए।

उत्तर–

प्रधानाचार्य/प्राचार्य के गुण
(Qualities of a Principal)

प्राचार्य के कार्यों, उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों का विवेचन करने से विदित होता है कि एक प्रभावशाली प्राचार्य में कुछ विशेष गुण होने चाहिए तभी विद्यालय का सुचारू रूप से संचालन तथा प्रशासन कर सकता है। प्राचार्य के कुछ गुण जन्म-जात होते हैं तथा कुछ गुणों का विकास प्रशिक्षण तथा अनुभवों से किया जा सकता है। आन्तरिक गुणों में–दृढ़ निश्चय वाला, नेतृत्व के गुण, संसाधनों को जुटा लेना, कर्म स्पर्शी, प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा दूसरों को प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति, विशुद्ध चरित्र वाला आदि। अन्य गुणों का विकास अनुभव तथा प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है। प्राचार्य के गुणों को चार वर्गों में विभाजित करते हैं–

1. व्यक्तिगत गुण (Personal Qualities),
2. व्यावसायिक तथा वृत्तिक गुण (Professional Qualities),
3. प्रशासनिक गुण (Administrative Qualities), तथा
4. नेतृत्व के गुण (Leadership Qualities)।

इन गुणों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है–

(1) व्यक्तिगत गुण
(Personal Qualities)

इस व्यक्तिगत वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित गुण सम्मिलित किये जाते हैं–

1. उत्तम शारीरिक गठन,
2. अच्छी आदतें तथा जीवन की पवित्रता,
3. उत्तम चरित्र तथा उच्च आदर्श,
4. कठिन परिश्रम करने की प्रवृत्ति,
5. संवेदनशीलता तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार,
6. अच्छे मानवीय सम्बन्ध बनाना।
7. **बौद्धिक तथा भावात्मक गुण**–इसमें विशेषत: निम्नांकित गुणों को सम्मिलित करते हैं–
   (i) अभिव्यक्ति करने की योग्यता एवं क्षमताएँ,
   (ii) वस्तुनिष्ठ तथा सही दृष्टिकोण तथा अभिवृत्ति,
   (iii) अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग होना,
   (iv) अधिक परिश्रमी होना,
   (v) उच्च बुद्धि-लब्धि होना,
   (vi) स्वोपक्रम की प्रवृत्ति होना,
   (vii) सामाजिक समस्याओं का बोध होना,
   (viii) निरीक्षण तथा परिवीक्षण की क्षमता होना,
   (ix) व्यक्तिगत भिन्नताओं के प्रति जागरूक होना,
   (x) भावात्मक सन्तुलन होना,
   (xi) चिन्ता मुक्त होना,
   (xii) आशावादी होना,
   (xiii) सकारात्मक दृष्टिकोण रखना,
   (xiv) अन्य व्यक्तियों को प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति का होना,
   (xv) सभी से सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना आदि।

8. व्यक्तिगत, सामाजिक तथा आचार-संहिता के गुण—इसमें निम्नलिखित गुणों को सम्मिलित किया जाता है—
   (i) कुशलता
   (ii) सृजनात्मक होना
   (iii) विश्वसनीय
   (iv) निष्पक्ष व्यवहार
   (v) खुले मस्तिष्क का होना
   (vi) नियमित
   (vii) आदरपूर्ण व्यवहार देना
   (viii) सहयोग की भावना
   (ix) सभी का हितैषी होना
   (x) सामाजिकता के गुण
   (xi) सुझाव देने की प्रवृत्ति होना
   (xii) प्रतिबद्धता होना
   (xiii) स्वाभिमान होना
   (xiv) आत्मविश्वास होना
   (xv) अपनी त्रुटियों को स्वीकारना
   (xvi) दृढ़ निश्चय की प्रवृत्ति होना।

(2) प्राचार्य के व्यावसायिक गुण
(Professional Qualities)

व्यवसाय के प्रति निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

1. अपने व्यवसाय का पूर्ण ज्ञान होना—
2. शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया आधुनिकतम होनी चाहिए—
3. प्रशासनिक, पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण का व्यावहारिक ज्ञान होना—
4. शिक्षकों के प्रति सहानुभूति रखना।

(3) प्रशासनिक गुण
(Administrative Qualities)

प्राचार्य विद्यालय का प्रशासक होता है परन्तु प्रबन्धन के सभी कार्यों में उसकी भूमिका तथा उत्तरदायित्व भी होता है। इसलिए एक अच्छे प्रशासक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

1. प्रशासनिक कार्यों का बोध तथा सम्पादन की कुशलता होनी चाहिए।
2. विद्यालय के कार्यों में विकेन्द्रीकरण की वृत्ति अपनानी चाहिए।
3. वरीयता के आधार तथा योग्यता के अनुरूप कार्यों को सौंपना चाहिए।
4. प्रशासनिक कार्यों का पर्यवेक्षण तथा परिवीक्षण करना चाहिए।
5. विद्यालय के कार्यों की व्यवस्था में शिक्षकों की प्रतिभाओं का समुचित सदुपयोग करना चाहिए।
6. सभी कार्य करने की स्वतन्त्रता देता है परन्तु मानकों को ध्यान में रखना चाहिए।
7. छात्रों, शिक्षकों तथा कर्मचारियों के कार्यों को प्रोत्साहन देना चाहिए।
8. विद्यालय की प्रशासनिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील होना चाहिए।
9. निर्णन लेने की क्षमता होनी चाहिए।
10. प्रजातांत्रिक मूल्यों का अनुसरण करना।

(4) नेतृत्व के गुण
(Qualities of Leadership)

विद्यालय के प्राचार्य को एक अच्छा प्रशासक होना आवश्यक है। उतने ही उसमें नेतृत्व के गुण होने चाहिए क्योंकि विद्यालय के कार्यकर्त्ताओं, शिक्षकों तथा छात्रों का नेतृत्व प्रदान करना होता है। इसमें निम्नलिखित गुणों को सम्मिलित करते हैं—

1. प्राचार्य का व्यक्तित्व बहु-आयामी होता है। शिक्षकों को नवीन परिवर्तनों तथा आयामों की जानकारी देता है तथा उन्हें अपने शिक्षण उपयोग करने को प्रोत्साहित करता है।
2. प्राचार्य विद्यालय के सभी कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेता है जिससे छात्र-शिक्षक प्रोत्साहित होते हैं।

3. प्राचार्य अपने पर्यवेक्षण में सुझाव अधिक देता है और सभी को प्रोत्साहित करता है।
4. सामुदायिक कार्यक्रमो मे सक्रिय भाग लेता है तथा कठिनाइयो मे सहयोग करता है।

प्रश्न 9—प्राचार्य के कर्त्तव्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

उत्तर-

प्राचार्य के कर्त्तव्य

एक विद्यालय के संचालन में प्राचार्य को अनेक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। यह भले ही अपने कर्त्तव्यों को शिक्षकों को सौंप दे परन्तु जवाबदेही प्राचार्य की ही होती है। प्राचार्य के कार्यों एवं कर्त्तव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—

1. सामान्य कर्त्तव्य (General Dutics), 2. विशिष्ट कर्त्तव्य (Specific Duties)।

(1) प्राचार्य के सामान्य कर्त्तव्य

प्राचार्य के सामान्य कर्त्तव्यों का अध्ययन विद्यालय के सत्र के सन्दर्भ में किया जा सकता है—

(अ) विद्यालय शिक्षण सत्र आरम्भ होने से पूर्व कर्त्तव्य,

(ब) विद्यालय के पूरे वर्ष संचालन के कर्त्तव्य, तथा

(स) विद्यालय शिक्षण सत्र बाद के कर्त्तव्य।

(अ) विद्यालय के शिक्षण सत्र आरम्भ होने से पूर्व कर्त्तव्य— शिक्षण सत्र के आरम्भ से प्राचार्य को निम्नांकित कर्त्तव्यों को करना होता है—

1. विद्यालय का कलैण्डर तैयार करना जिसमें पाठ्यक्रमों तथा पाठ्य-सहगामी क्रियाओं का विस्तृत विवरण दिया जाता है।
2. शिक्षण कार्य हेतु शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था करना।
3. प्रशासनिक तथा शैक्षिक कार्यों का विवरण करना।
4. विद्यालय की समय-सारणी (Time-Table) तैयार करना।
5. आवश्यक उपकरण, पुस्तकों तथा शिक्षण सामग्री की व्यवस्था करना।
6. छात्र रजिस्टर, शिक्षक रजिस्टर, डायरी, चाक, डस्टर को खरीदना।
7. छात्रों की प्रवेश प्रक्रिया की व्यवस्था करना तथा प्रवेश देना, प्रवेश समितियों का गठन करना।
8. कक्षा-शिक्षकों का आवंटन करना तथा कक्षा में बैठने का भी वितरण करना।
9. नवीन कक्षाओं के लिए कमरों की व्यवस्था देखना।
10. इन कार्यों हेतु एक लिखित प्रारूप भी पत्रिका के रूप में तैयार कर लिया जाता है जिसका सभी में वितरण करते हैं और उसी के अनुसार सभी अपने-अपने कार्यों को करना आरंभ करते हैं।

(ब) विद्यालय के पूर्व शिक्षण अवधि में प्राचार्य के कर्त्तव्य-

1. विद्यालय आरम्भ होने का दिन तथा तिथि का भी पूर्व निर्धारण करके उसे सूचनापट्ट पर लगा देना चाहिए। कक्षाओं, पुस्तकालय तथा प्रयोगशाला की नये छात्रों को जानकारी देनी चाहिए। शिक्षकों की एक बैठक का भी विद्यालय खुलने से पूर्व आयोजन करना चाहिए जिसमें नियोजन तथा समस्याओं पर विचार-विमर्श करना चाहिए। प्राचार्य को सभी का सहयोग तथा विश्वास प्राप्त करना चाहिए। प्रत्येक को अपने कार्यों तथा उत्तरदायित्वों की जानकारी होनी चाहिए। विद्यालय खुलने से एक दिन पूर्व प्राचार्य को सभी व्यवस्था देख लेनी चाहिए। कुछ समस्यायें तत्काल समाधान चाहती हैं। अनिवार्य पाठ्यक्रमों की व्यवस्था पहले करनी चाहिए तथा वैकल्पिक विषयों के शिक्षण की व्यवस्था एक सप्ताह के बाद करनी चाहिए जिससे यह विदित हो जाए कि किस पाठ्यक्रम को कितने छात्रों ने लिया है। उसी के अनुसार व्यवस्था की जाए।
2. विद्यालय के सभी शैक्षिक कार्यक्रमों की व्यवस्था अपने पर्यवेक्षण में करनी चाहिए। प्राचार्य को आरम्भ के दिनों में समय से पूर्व जाकर सभी व्यवस्थाओं का पर्यवेक्षण कर लेना चाहिए। विद्यालय की सफाई, विद्यालय प्रार्थना तथा सभी की व्यवस्था का निरीक्षण करना चाहिए। पाठ्य-सहगामी क्रियाओं तथा पाठ्यक्रम सम्बन्धी क्रियाओं का भी पर्यवेक्षण किया जाए। आगन्तुकों के लिए समुचित व्यवस्था की जाए तथा उनकी समस्याओं का समाधान किया जाए।

3. आन्तरिक छमाही तथा वार्षिक परीक्षाओं का कार्यक्रम तैयार किया जाए। परीक्षा-प्रश्नों का निर्माण कराया जाए। वर्ष के अन्तर्गत होने वाले अन्य कार्यक्रमों का आयोजन कराया जाए। बोर्ड तथा आन्तरिक परीक्षाओं का कार्य प्राचार्य को ही करना होता है।
4. वर्ष के अन्तिम चरण में प्राचार्य के कर्त्तव्य-शिक्षण सत्र के अन्त में प्राचार्य को निम्नांकित कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है—
   (i) वार्षिक परीक्षा की व्यवस्था करना तथा परीक्षाफल तैयार करना।
   (ii) छात्रों के परीक्षाफल तैयार कराके वितरण करना।
   (iii) आगामी सत्र का पोषण करना।
   (iv) छात्रों को प्रमाणिक तथा स्थानान्तरण प्रमाण-पत्रों के लिए व्यवस्था करना जिससे विद्यालय बन्द होने से पूर्व छात्र उन्हें प्राप्त कर सकें।

(2) विशिष्ट कर्त्तव्य

प्राचार्य के विशिष्ट कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं—

(अ) विद्यालय कार्यों का पर्यवेक्षण।

(ब) विद्यालय अनुशासन का अनुरक्षण।

(स) विद्यालय प्रबन्धन-नियोजन, व्यवस्था, संचालन तथा नियन्त्रण।

(द) विद्यालय का वित्तीय नियंत्रण करना, तथा

(य) विद्यालय में विशिष्ट सेवाओं की व्यवस्था करना।

इन कार्यों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है।

(अ) विद्यालय कार्यों का पर्यवेक्षण—प्राचार्य विद्यालय को नेतृत्व प्रदान करता है। इसलिए सभी प्रकार की क्रियाओं का परिवीक्षण तथा पर्यवेक्षण करना होता है। वे इस प्रकार हैं—

1. कक्षा शिक्षण कार्यों का पर्यवेक्षण करना।
2. पाठ्यक्रम का विकास तथा सुधार करना।
3. मूल्यांकन कार्यक्रमों का आयोजन तथा व्यवस्था करना।
4. पाठ्य-सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था करना।
5. छात्रावास, पुस्तकालय, प्रयोगशाला तथा खेलकूद के कार्यों का निरीक्षण करना।
6. छात्रों के प्रवेश तथा पंजीकरण की व्यवस्था करना।
7. अन्य सामान्य कार्यों के पर्यवेक्षण की व्यवस्था करना।

(ब) पाठ्य-सहगामी क्रियाओं का आयोजन करना—पाठ्यक्रम के कार्यों की व्यवस्था के अतिरिक्त पाठ्य-सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था भी करता है—

1. एन० सी० सी० तथा प्राथमिक चिकित्सा का आयोजन।
2. स्काउटिंग तथा बालचर का आयोजन करना।
3. राष्ट्रीय समाज सेवा कार्यों का आयोजन करना।
4. वाक प्रतियोगिता, सांस्कृतिक कार्यक्रमों की व्यवस्था करना।
5. निर्देशन तथा परामर्श सेवाओं का आयोजन करना।
6. विद्यालय में प्रदर्शनी तथा शैक्षिक पर्यटन कर आयोजन करना।

(स) विद्यालय का वित्तीय प्रबन्धन (Maintenance of School Account)—प्राचार्य को विद्यालय वित्तीय प्रबन्धन का भी नियन्त्रण करना होता है—

1. वार्षिक बजट तैयार करना।
2. वित्तीय आलेख का अनुरक्षण करना।
3. आय-व्यय का आलेख तैयार करना।
4. छात्र-खाते को तैयार करना।
5. वार्षिक रिपोर्ट तैयार करना।
6. सम्पत्ति रजिस्टर का अनुरक्षण करना।

प्रश्न 10—प्राचार्य के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—

प्राचार्य के मुख्य कार्य
(Basic Functions of Principal)

प्राचार्य को अपनी भूमिका तथा उत्तरदायित्वों के निर्वहन में कार्यों को स्वयं करना होता है तथा शिक्षकों का सहयोग लेना होता है। प्राचार्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. शिक्षण कार्यों की व्यवस्था एवं संचालन—विद्यालय की शिक्षा में प्राचार्य का मुख्य कार्य शिक्षण कार्यों का आयोजन करना और समुचित रूप से संचालन करना है। समय-तालिका निर्माण करके शिक्षकों को अवगत कराना जिसे कक्षा तथा कालांश के अनुसार शिक्षण कार्य को करें। शिक्षक की अनुपस्थिति में अन्य शिक्षक को कार्य सौंपना, शिक्षण कार्यों के संचालन का पर्यवेक्षण करना है। शिक्षक तथा छात्रों की कठिनाइयों के अनुसार समय-तालिका में परिवर्तन करना। समय-तालिका कक्षागत तथा शिक्षकोगत तैयार की जाती है।

2. विद्यालय का शैक्षिक वातावरण समुचित रखना—विद्यालय का शैक्षिक वातावरण पठन-पाठन के अनुकूल होना चाहिए। विद्यालय का प्रांगण स्वच्छ होना चाहिए। वातावरण शान्त होना चाहिए ताकि सभी अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहें। शिक्षण अवधि में छात्रों को कक्षा से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी जाए। सभी छात्र एवं शिक्षक विद्यालय में समय से पहुँचे जिससे विद्यालय का वातावरण समुचित रह सके। अभिभावकों से सम्पर्क हेतु भी समुचित व्यवस्था तथा परामर्श कक्ष होना आवश्यक होता है।

3. विद्यालय के लक्ष्यों का निर्धारण करना—विद्यालय अथवा संस्था के विकास के प्रति प्राचार्य कितना जागरूक है, यह इससे विदित होता है कि प्राचार्य विद्यालय के विकास हेतु नये लक्ष्यों का प्रतिपादन करके उनके लिए प्रयत्नशील रहता है। विद्यालय की कार्य-प्रणाली में सुधार करना तथा शिक्षकों को प्रोत्साहित करना जिससे नये आयामों तथा स्रोतों का सृजन करें। विद्यालय के विकास में सभी के सहयोग से प्राचार्य नये लक्ष्यों का निर्धारण करता है। विद्यालय के विकारा में प्राचार्य तथा शिक्षकों की प्रतिबद्धता होना चाहिए तभी आदर्श विद्यालय बनाया जा सकता है।

नये लक्ष्यों के निर्धारण में समुदाय की आवश्यकताओं, उपलब्ध स्रोतों तथा साधनों को ध्यान में रखना चाहिए। समुदाय का सहयोग भी विकास में आवश्यक है। प्राचार्य में नेतृत्व के गुण तथा व्यक्तित्व बहुआयामी होना चाहिए। प्राचार्य को परिवर्तन के लिए शिक्षकों तथा समुदाय की मानसिकता बनानी होगी। जो परिवर्तन को सरलता से स्वीकार नहीं करते उनका विरोध अधिक होता है।

4. शैक्षिक नेतृत्व प्रदान करना—शैक्षिक नेतृत्व के लिए **हॉगकिन्सन** ने चार सूत्र दिये हैं—(अ) कार्य को जानना (ब) परिस्थिति को समझाना (स) अनुसरण करने वालों की जानकारी तथा (द) अपने को पहचानना। इनके द्वितीय सूत्र में विद्यालय संगठन/व्यवस्था की परिस्थितियों को सम्मिलित किया है। इस सूत्र में प्रथम सूत्र पूरक कार्य करता है। जब तक कार्य का बोध एवं कौशल नहीं होगा तब तक उसकी व्यवस्था समुचित ढंग से नहीं की जा सकती है। अनुभव तथा अभ्यास से ही शुद्ध ज्ञान होता है। नेता अर्थात् प्राचार्य को यह भी समझना आवश्यक है कि उसके कितने अनुयायी हैं जो उसका साथ देंगे अथवा सहयोग करेंगे। अन्तिम सूत्र अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसे अपने को भली प्रकार और वास्तविक रूप में समझना चाहिए। अधिकांश व्यक्तियों में अपने सम्बन्ध में भ्रम ही रहता है। एक नेता को अपनी पाहचान होना आवश्यक है तभी वह अपने कार्यों में सफल हो सकता है।

5. वृत्तिक प्रशिक्षण तथा ज्ञान प्रदान करना—विद्यालय की शिक्षा में शिक्षण वृत्ति का महत्त्व अधिक होता है इसलिए सभी शिक्षकों को अपनी वृत्ति का ज्ञान होना चाहिए तथा प्रशिक्षण भी प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए प्राचार्य को अभिविन्यास पाठ्यक्रमों की

व्यवस्था करनी चाहिए। सेमीनार तथा कार्यशालाओं का आयोजन करना चाहिए जिससे शिक्षकों को वृत्तिक प्रशिक्षण तथा ज्ञान प्राप्त हो सके। साथ ही शिक्षण मे नये आयामों तथा नवाचार से अवगत हो सकें।

6. विद्यालयों के कार्यों का पर्यवेक्षण करना—यह प्राचार्य का उत्तरदायित्व तथा कार्य दोनों ही हैं। विद्यालय के संचालन में पर्यवेक्षण का विशेष महत्त्व है। आज विद्यालयों के आकार इतने बड़े हो गये हैं कि प्राचार्य को सभी कार्यों का पर्यवेक्षण करना सम्भव नहीं होता है इसलिए वरिष्ठ शिक्षकों को विभिन्न कार्यों का उत्तरदायित्व तथा अधिकार सौंप दिया जाता है, फिर भी प्राचार्य कभी-कभी पर्यवेक्षण करता है। आज आधुनिक उपकरणों की सहायता से प्राचार्य विद्यालय के संचालन का अपने कमरे में बैठे-बैठे अवलोकन कर लेता है तथा दिशा-निर्देशन भी करता है।

7. विद्यालय के कार्यों में सभी का सहयोग करना—विद्यालय शिक्षा के कार्यों में प्राचार्य को सभी का सहयोग आवश्यक होता है। इसके लिए प्राचार्य को शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों को प्रोत्साहित तथा अभिप्रेरित करना होता है। उनकी आवश्यकताओं तथा कठिनाइयों को ध्यान में रखना होता है जिससे उनका विद्यालय कार्यों में लगाव हो और विद्यालय सभी का है, ऐसी भावना का विकास किया जाए। यह कार्य प्राचार्य का होता है और वह तभी सहयोग प्राप्त कर सकता है। प्राचार्य का व्यवहार पक्षपात रहित होना चाहिए।

8. सभी का सहयोग प्राप्त करना—यह कार्य भी सहयोग का पक्ष है। प्राचार्य के सभी कार्य सकारात्मक होने चाहिए। अपने सहयोगियों की कमजोरियों पर ध्यान न देकर उन्हें विकास की ओर उन्मुख करना चाहिए। प्राचार्य के कार्य ऐसे होने चाहिए जिससे विरोधी भी अनुभव करने लगे कि वह अहित नहीं करेंगे। उन्हें उनकी गलतियों की अनुभूति सकारात्मक कार्यों तथा दृष्टिकोण से कराई जा सकती है। प्राचार्य उनका भी विश्वास प्राप्त कर सकता है।

9. सभी से सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना—प्राचार्य को छात्रों, शिक्षकों, अन्य कर्मचारियों तथा अभिभावकों से सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उनकी कठिनाइयों तथा समस्याओं को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उनका समाधान करने का प्रयास करना चाहिए। यदि उसके अधिकार से बाहर है तो असमर्थता व्यक्त करनी चाहिए तथा परामर्श भी दिया जा सकता है। प्राचार्य के पास जो भी आता है कोई आशा लेकर आता है। इसलिए निराश नहीं किया जाए। सहयोग, विश्वास तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार परस्पर समीप हैं तथा पूरक भी हैं।

10. अपने अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों को सौंपना—विद्यालय संचालन के लिए यह कार्य प्राचार्य हेतु अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्राचार्य अपने अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों को वरिष्ठ शिक्षकों को सौंप देता है जिससे प्राचार्य की अनुपस्थिति में भी विद्यालय का संचालन यथावत् होता रहता है। इससे प्रशासन में विकेन्द्रीकरण आयाम का अनुपालन भी होता है। प्राचार्य की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। प्राचार्य को विद्यालय विकास के कार्यों के लिए समय मिल जाता है।

11. स्वस्थ शरीर का होना—प्राचार्य की भूमिकाओं, उत्तरदायित्वों, अधिकारों, कार्यों तथा जवाबदेही का क्षेत्र इतना वृहद् है कि स्वस्थ व्यक्ति ही प्राचार्य के कार्यों का संचालन तथा सम्पादन कर सकता है। छात्रों के स्वास्थ्य का भी ध्यान रख सकता है। इसके लिए सन्तुलित भोजन की आवश्यकता होती है। कहावत है—"स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है।"

हार्ट ने प्रशासन के सात गुणों का उल्लेख किया है। यह सात विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. विद्यालय शिक्षा में अपनी कार्य-प्रणाली की व्यवस्था की योग्यता से स्थान बना लेना।
2. विद्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रणाली ऐसी हो जो समुदाय तथा छात्रों को प्रभावित कर सके।
3. विद्यालय की शिक्षा में अकुशलता का सुधार इस प्रकार किया जाए जिससे संस्था के प्रति लगाव बना रहे।
4. विद्यालय के कार्यों का प्राचार्य द्वारा और सुधार हेतु साथ सुझाव दिये जायें।
5. विद्यालय शिक्षा-प्रणाली में प्रत्येक शिक्षक तथा कर्मचारी अच्छा अनुभव करें।
6. विद्यालय प्रणाली में प्रत्येक को उसकी प्रगति में सहायता प्रदान की जाए जिससे अपना विकास कर सके।
7. विद्यालय प्रणाली में प्रशासक तथा पर्यवेक्षक के साथ कार्य करने में प्रसन्नता का अनुभव कर सके।

इनकी समीक्षा कुछ शब्दों में की जा सकती है—(1) कर्त्तव्य की अनुभूति, (2) सहानुभूति, (3) निर्णय शक्ति, (4) सूझ की शक्ति, (5) कार्य से लगाव, (6) आत्म-नियन्त्रण, (7) दृढ़ता, (8) संगठन की शक्ति, (9) अभिव्यक्ति की क्षमता, तथा (10) विद्यालय से प्रतिबद्धता।

PAPER-IV

बाल स्वास्थ्य शिक्षा, वैकल्पिक शिक्षा एवं निर्देशन

[CHILD HEALTH EDUCATION, ALTERNATIVE EDUCATION AND GUIDANCE]

प्रश्न 1—बाल स्वास्थ्य शिक्षा का क्या अर्थ है ? स्वास्थ्य शिक्षा के क्षेत्र तथा सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

स्वास्थ्य शिक्षा का अर्थ

वुड तथा ब्राडनेल के अनुसार—"बाल स्वास्थ्य शिक्षा, विद्यालय और दूसरे स्थानों से प्राप्त किये जाने वाले उन सब अनुभवों का योग है, जो व्यक्ति, समुदाय और मानव-जाति के स्वास्थ्य से सम्बन्धित आदतों, दृष्टिकोणों और ज्ञान को प्रभावित करते हैं।"

वुड तथा ब्राडनेल की इस परिभाषा के अनुसार स्वास्थ्य शिक्षा का अर्थ वातावरण निर्माण से है। यह वातावरण समाज, परिवार तथा विद्यालय द्वारा बनाया जाता है। स्वास्थ्य शिक्षा, व्यक्ति तथा समुदाय को स्वस्थ रहना सिखाती है। स्वास्थ्य शिक्षा शब्द अंग्रेजी के शब्द हाईजीन एजूकेशन (Hygiene Education) का हिन्दी रूपान्तरण है। हाईजीन (Hygiene) शब्द यूनानी शब्द हाईजिया (Hygea) से बना है। हाईजिया को यूनान की पौराणिक गाथाओं में स्वास्थ्य की देवी माना गया है। प्राचीन काल में यूनान के निवासी स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए हाईजिया देवी की पूजा करते थे। बाद में हाईज़िया शब्द को विद्वानों ने हाईजीन शब्द में परिवर्तित कर दिया तथा यही हाईजीन शब्द व्यक्तिगत तथा सामुदायिक स्वास्थ्य के शास्त्र के रूप में विकसित हुआ।

स्वास्थ्य शिक्षा का क्षेत्र

स्वास्थ्य विज्ञान सीमित अर्थ में व्यक्तिगत स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखता है। विस्तृत रूप में स्वास्थ्य विज्ञान में व्यक्तिगत, सार्वजनिक तथा स्कूल स्वास्थ्य सभी आते हैं। विद्यालय स्वास्थ्य के अन्तर्गत छात्रों के शारीरिक, मानसिक विकास, उनके स्वास्थ्य की रक्षा एवं इसमें आने वाली समस्याओं और उनके निवारण का अध्ययन किया जाता है। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत ही हम उनको रोगों से बचने एवं स्वस्थ रहने के तरीके सिखाते हैं।

सामान्यतया स्वास्थ्य शिक्षा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा, 2. स्कूल स्वास्थ्य शिक्षा।

1. सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा–सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत व्यक्ति, समूह तथा समाज को दी जाने वाली स्वास्थ्य शिक्षा आती है, जो समय-समय पर सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग तथा स्वास्थ्य संस्थाओं द्वारा निर्देशों के रूप में दी जाती है। इस प्रकार की स्वास्थ्य शिक्षा से जनता का स्वास्थ्य सम्बन्धी दृष्टिकोण बनता है।

2. स्कूल स्वास्थ्य शिक्षा–स्कूल स्वास्थ्य शिक्षा में विद्यालय परिवार के सभी शिक्षकगण छात्रों का स्वास्थ्य सम्बन्धी दृष्टिकोण बनाते हैं। छात्रों को स्वस्थ रहने के तरीके सिखाते हैं। रोगों से बचने के तरीके तथा विद्यालय के वातावरण को शुद्ध रखना भी विद्यालय स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत बच्चों को सिखाया जाता है।

विद्यालय स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—

(i) विद्यालय भवन का फर्नीचर।

(ii) विद्यालय का दैनिक कार्यक्रम।

(iii) छात्रों के व्यक्तिगत स्वास्थ्य का ध्यान।

(iv) विद्यालय भवन, विद्यालय के आस-पास का वातावरण, विद्यालय भवन का निर्माण, विद्यालय भवन में वायु तथा प्रकाश की व्यवस्था–वातावरण का प्रबन्ध, खेल का मैदान आदि।

(v) विद्यालय में जलपान का उचित प्रबन्ध।

(vi) सक्रामक रोग एवं उनका उचित उपचार तथा नियन्त्रण।

(vii) विद्यालय भवन के शौचालय तथा मूत्रालय की उचित व्यवस्था।

शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत अध्यापकों को छात्रों के शारीरिक स्वास्थ्य का ही ध्यान नहीं रखना चाहिए वरन् उनके मानसिक विकास तथा व्यक्तित्व निर्माण का भी ध्यान रखना चाहिए। उनकी मानसिक व्याधियों तथा चिन्ताओं को भी यथासम्भव अध्यापक दूर करे।

स्वास्थ्य शिक्षा के सिद्धान्त

स्कूल में स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए कुछ सिद्धान्तों का समावेश आवश्यक है, जो कि निम्न प्रकार है—

(i) व्यक्तिगत स्वास्थ्य का ध्यान–विद्यालय में स्वास्थ्य रक्षा के अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वास्थ्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(ii) स्वस्थ आदतें–छात्रों में स्वस्थ आदतों का होना भी स्वास्थ्य रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण है। छात्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छी आदतें शुरू से ही डालनी चाहिए।

(iii) अल्पाहार तथा दैनिक भोजन–छात्रों में अल्पाहार तथा दैनिक भोजन की खाद्य सामग्रियों की जानकारी भी अध्यापक के लिए आवश्यक है। शिक्षक उन्हें सन्तुलित आहार के बारे में भी जानकारी दें।

(iv) समाज तथा परिवार का सहयोग–विद्यालय के स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रम में समाज तथा घरों का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिए, क्योंकि बिना घरों के सहयोग के विद्यालय का स्वास्थ्य रक्षा कार्यक्रम पूर्ण सफल नहीं हो सकता।

(v) नियमित जाँच–विद्यालय में छात्रों के स्वास्थ्य का नियमित डॉक्टरी परीक्षण होना भी बहुत आवश्यक है।

(vi) स्वास्थ्य रक्षा का पालन–स्वास्थ्य रक्षा का विद्यालय में पूर्ण पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय प्रशासन के अधिकारी उसे शिक्षा के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में मान्यता दें।

(vii) शारीरिक व्यायाम–छात्रों को शारीरिक व्यायाम की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रत्येक छात्र को विद्यालय में शारीरिक व्यायाम के अन्तर्गत ड्रिल, खेल, दौड़ आदि कराई जानी चाहिए।

(viii) सरल एवं व्यावहारिक–स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी निर्देश सरल तथा व्यवहारोपयोगी होने चाहिए, जिससे कि विद्यालय स्वास्थ्य में सुधार हो और छात्र स्वास्थ्य सम्बन्धी निर्देशों में विशेष रुचि ले सकें।

(ix) शरीर विज्ञान–छात्रों को स्वास्थ्य रक्षा के अन्तर्गत शरीर विज्ञान को औपचारिक शिक्षा मिलनी चाहिए।

(x) शिक्षकों का स्वस्थ होना–शिक्षकों का स्वयं का स्वस्थ होना एवं उनका स्वास्थ्य सम्बन्धी उचित दृष्टिकोण होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

➤

प्रश्न 2—स्वास्थ्य शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं ? स्वास्थ्य रक्षा के उपायों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

स्वास्थ्य शिक्षा का उद्देश्य

राष्ट्र की उन्नति के लिए नवयुवकों का स्वस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। यदि राष्ट्र के नवयुवकों का स्वास्थ्य अच्छा है तो उस देश के नागरिकों का बौद्धिक तथा नैतिक स्तर ऊँचा होगा। विद्यालय समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। आज के छात्र तथा नवयुवक भविष्य में राष्ट्र के कर्णाधार बनेंगे, यदि उनका बौद्धिक तथा नैतिक स्तर (जो कि अच्छे स्वास्थ्य पर निर्भर करता है) ऊँचा होगा तो राष्ट्र की उन्नति होगी। राष्ट्र की उन्नति के लिए विद्यालयों पर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है। इसके लिए छात्रों को स्वास्थ्य शिक्षा देना भी आवश्यक है।

विद्यार्थियों को स्वास्थ्य शिक्षा निम्नलिखित उद्देश्यों के आधार पर दी जानी चाहिए—

1. बुरी आदतों से बचाव–छात्र कई बार विद्यालय जीवन में अनेक बुरी आदतों तथा बुरे व्यसनों में फँस जाते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं दिखाई देती, लेकिन कुछ समझ आने पर उनको अपनी गलती का अहसास होता है। अच्छे शिक्षक होने के नाते एवं स्वास्थ्य दृष्टिकोण के नाते प्रत्येक शिक्षक का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह बालकों को इन बुरे व्यसनों एवं बुरी आदतों से परिचित कराके दूर रखने की कोशिश करे।

2. सर्वांगीण विकास–स्वास्थ्य शिक्षा का उद्देश्य छात्रों का सर्वांगीण विकास करना एव राष्ट्रीय स्वास्थ्य मे योगदान देना है।

3. स्वस्थ जीवन की आदत–छात्रो को स्वस्थ जीवन बिताने का अभ्यास डालने के लिए तथा उनको स्वास्थ्य रक्षा के उपाय बताने के लिए।

4. स्वस्थ वातावरण का निर्माण–विद्यालय मे इस प्रकार के वातावरण को बनाना कि छात्र स्वयं ही शारीरिक स्वास्थ्य की ओर आकर्षित हो तथा इसे प्राप्त करने का प्रयास करें। इसके अन्तर्गत शारीरिक स्वास्थ्य प्रतियोगिताएँ आदि कराना तथा स्वस्थता का पारितोषिक देना भी विद्यालय का कार्य होना चाहिए।

5. स्वास्थ्य रक्षा के प्रति रुचि–छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य को तो शिक्षक ज्ञान देकर तथा उनकी परेशानियाँ दूर करके बना सकता है, लेकिन मानसिक स्वास्थ्य के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षकों को बालक में शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति रुचि पैदा करनी चाहिए। इस प्रकार बालक शारीरिक तथा मानसिक दोनो प्रकार के विकास की ओर ध्यान देंगे।

स्वास्थ्य रक्षा के उपाय

छात्रों को पूर्ण रूप से स्वस्थ बनाये रखने के लिए स्वास्थ्य रक्षा के कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय अपनाने चाहिए। स्वास्थ्य रक्षा के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना बहुत ही आवश्यक है—

1. विद्यालय में सफाई तथा स्वच्छता–विद्यालय में नियमित रूप से सफाई का होना भी बहुत जरूरी है। विद्यालय एक ऐसा स्थान है, जहाँ पर सभी प्रकार के छात्र आते हैं। छात्र चाहे कैसे भी क्यों न हों, यदि उनको स्वच्छ रहना एवं सफाई रखना सिखाया जायेगा तो वे निश्चित रूप से इसके प्रति सजग रहेंगे। इसके अतिरिक्त विद्यालय भवन की सफाई भी वहाँ के नौकरों द्वारा नियमित रूप से होनी चाहिए। विद्यालय के मूत्रालय को नियमित रूप से साफ करके उसमें फिनाइल डाला जाना चाहिए। विद्यालय का कोई भी स्थल गन्दा न रहे, इस बात की पूर्ण जानकारी छात्र एवं शिक्षकों को रखनी चाहिए।

2. विद्यालय का वातावरण–विद्यालय का वातावरण विद्यालय स्वास्थ्य के अन्तर्गत आने वाला महत्त्वपूर्ण विषय है। विद्यालय का वातावरण जैसा होगा छात्र भी निश्चित रूप से वैसे ही होंगे। गन्दी जगह स्थित तथा टूटे-फूटे भवन वाले विद्यार्थी प्राय: गन्दे ही देखे गये हैं। इसका भी एक मनोवैज्ञानिक कारण है। यदि बालक अच्छे समाज से सम्बन्ध रखता है और स्वस्थ दृष्टिकोण रखता है, किन्तु यदि विद्यालय गन्दा है, वहाँ का वातावरण दूषित है तो बालक अपने आपको उसके ही अनुकूल बनाएगा तथा बालक का स्वास्थ्य सम्बन्धी दृष्टिकोण भी बदल जायेगा। स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी उपायों के अन्तर्गत यह बहुत जरूरी है कि विद्यालय का वातावरण दूषित न हो तथा विद्यालय अच्छी तरह एवं खुले हुए स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान पर हो।

3. शुद्ध वायु तथा प्रकाश की व्यवस्था–स्वस्थ रहने और रखने के लिए शुद्ध वायु का होना बहुत जरूरी है। शुद्ध वायु के न होने पर दूषित वायु से बहुत-से रोग हो जाते हैं। इसलिए विद्यालय में शुद्ध वायु का होना बहुत जरूरी है। विद्यालय में शुद्ध वायु का आवागमन तभी हो सकता है, जबकि विद्यालय अच्छी जगह स्थित हो, विद्यालय भवन के कमरों में पर्याप्त खिड़कियाँ तथा रोशनदान हों।

4. अच्छा फर्नीचर–शुद्ध वायु तथा प्रकाश के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि छात्र जिस फर्नीचर को बैठने एवं लिखने के काम में लें वह अच्छा होना चाहिए। बैठने में सुविधाजनक तथा लिखने में भी सुविधाजनक फर्नीचर के होने से छात्रों का स्वास्थ्य अच्छा बना रहेगा। बहुत-से विद्यालयों में अन्य बातों का तो बहुत ध्यान रखा जाता है, किन्तु फर्नीचर पर किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया जाता। इससे छात्रों की रीढ़ की हड्डी तथा शरीर के अन्य अवयवों पर जोर पड़ता है। परिणामस्वरूप छात्रों का स्वास्थ्य खराब होने का भय बना रहता है।

5. छात्रों का स्वास्थ्य निरीक्षण–विद्यालय के उच्चाधिकारियों को चाहिए कि वे वर्ष में एक या दो बार छात्रों की डॉक्टरी जाँच कराएँ। विद्यालय में प्रवेश लेने के समय से लेकर प्रत्येक वर्ष छात्रों के स्वास्थ्य की जाँच होती रहनी चाहिए। यदि छात्र रोगी हो तो उनके माता-पिता को उनके रोग की सूचना शीघ्र दे दी जानी चाहिए। माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे छात्रों के रोग का उचित उपचार कराएँ, उसके बाद उसे विद्यालय में भेजें।

6. आहार का सन्तुलित होना–विद्यालय में दोपहर में दिये जाने वाले आहार का सन्तुलित होना स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। आहार में दी जाने वाली वस्तुएँ ताजा तथा स्वास्थ्यवर्द्धक होनी चाहिए। सन्तुलित आहार से छात्रों के स्वास्थ्य में वृद्धि होगी एवं पूर्ण शारीरिक विकास होगा।

7. विद्यालय की समय-सारणी–विद्यालय की समय-सारणी ऐसी हो, जिससे छात्रो तथा अध्यापकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव न पड़े। समय-सारणी बनाते समय इस बात का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिये कि प्रत्येक विषय को सिलसिलेवार तथा छात्रों की रुचि के अनुसार रखा जाना चाहिए। इस बात का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए कि मानसिक थकान छात्रों तथा अध्यापकों में न आए।

विद्यालयो मे समय-समय पर विभिन्न प्रकार की खेल प्रतियोगिताएँ भी होनी चाहिएँ। शरीर रक्षा के प्रति छात्रों में रुचि उत्पन्न करने के लिए उन्हें पारितोषिक भी वितरित किये जाने चाहिएँ। इस प्रकार की व्यवस्था से छात्रों के स्वास्थ्य में वृद्धि होगी। ➤

प्रश्न 3—स्वास्थ्य शिक्षा की आवश्यकता तथा महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–

स्वास्थ्य शिक्षा की आवश्यकता

विद्यालय में स्वास्थ्य शिक्षण

विद्यालयों में स्वास्थ्य शिक्षण का ज्ञान छात्रों को देना उतना ही आवश्यक है, जितना कि अन्य विषयों का। स्वास्थ्य रक्षा के अन्तर्गत व्यायाम तथा खेल-कूद के अतिरिक्त छात्रों के लिए स्वास्थ्य शिक्षा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए उस देश के नागरिकों का स्वस्थ होना बहुत जरूरी है। जिस देश में छात्रों के स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दिया जायेगा, उस देश का नैतिक पतन होगा तथा वहाँ के नागरिकों का शरीर निर्बल तथा अशक्त होगा। ऐसा देश प्रगति के पथ पर नहीं चल सकता। इसलिए विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना आवश्यक है।

विद्यालयों में स्वास्थ्य-शिक्षण की विधि

स्वास्थ्य-शिक्षण को पाठशालीय शिक्षा का एक अंग मानते हुए स्वास्थ्य-शिक्षण निम्न प्रकार से पाठशाला में विद्यार्थियों को दिया जाये—

1. छात्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी आदतों का विकास–छात्रों को स्वास्थ्य-शिक्षण देने का सबसे अच्छा और मनोवैज्ञानिक तरीका है—छात्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी आदतों का विकास करना और उन्हें प्रोत्साहन देना। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि छात्र विद्यालय तथा घर पर कुछ अच्छी स्वस्थ आदतें सीखें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब छात्र के शिक्षक तथा अभिभावक स्वयं स्वस्थ आदतें रखें। यदि विद्यालय का वातावरण एवं विद्यालय भवन साफ होंगे तो बच्चे भी सफाई से रहना पसन्द करेंगे। सफाई से रहने से बालक के स्वास्थ्य पर अच्छा तथा स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव पड़ेगा।

2. छात्रों को स्वास्थ्य-शिक्षण–अन्य विषयों के शिक्षण की तरह ही छात्रों को स्वास्थ्य-शिक्षण भी दिया जाना चाहिए। स्वास्थ्य-शिक्षण की कक्षाओं में छात्रों को स्वास्थ्य के सामान्य नियमों का ज्ञान देना तथा उनको व्यवहार में लाने की बातें सिखाई जानी चाहिए। स्वास्थ्य-शिक्षण के अन्तर्गत छात्रों का सामान्य स्वास्थ्य निरीक्षण भी होता रहे। प्रतिदिन विद्यार्थी के शरीर तथा कपड़ों का निरीक्षण होना चाहिए। गन्दे कपड़ों में बिना स्नान के आने वाले छात्रों को टोका जाना चाहिए तथा उन्हें स्वास्थ्य के लाभ से परिचित कराना चाहिए।

3. व्यायाम तथा शारीरिक शिक्षा–छात्रों को व्यायाम तथा शारीरिक शिक्षा का ज्ञान देना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि पाठ्य-पुस्तकों का सामान्य ज्ञान देना। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत व्यायाम तथा शारीरिक शिक्षा का ज्ञान देना किसी शिक्षक विशेष का कार्य नहीं होना चाहिए अर्थात् व्यायाम या शारीरिक शिक्षा के शिक्षक पर ही इसकी जिम्मेदारी नहीं होनी चाहिए। छात्रों के शारीरिक विकास के कार्यक्रम समय-समय पर होते रहने चाहिए। शिक्षक वर्ग का यह कर्त्तव्य है कि वे इसमें सक्रिय योगदान दें। छात्रों को शुरू से ही शरीर रक्षण के उपायों का ज्ञान देते हुए व्यायाम की उपयोगिता से भी परिचित करा देना चाहिए। पाठशाला में व्यायाम तथा योग के आसनों का प्रदर्शन भी होना चाहिये।

4. स्वास्थ्य शिक्षा पुस्तकों एवं निर्देशों द्वारा–स्वास्थ्य रक्षा पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और बहुत-सी पुस्तकें अब भी लिखी जा रही हैं। इन पुस्तकों को पढ़ने से छात्रों को बहुत लाभ हो सकता है। इसके माध्यम से वे बहुत-सी अच्छी आदतें तथा स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय सीख सकते हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकों में अच्छी से अच्छी पुस्तकों को छाँट कर विद्यालय के पुस्तकालय में रखा जाय और छात्रों को उन्हें पढ़ने की परामर्श दिया जाये। इसी प्रकार समय-समय पर स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों की तरफ से स्वास्थ्य रक्षा के नियमों तथा निर्देशों की जानकारी भी छात्रों को होती रहनी चाहिए।

5. समाज सेवा कार्यक्रम द्वारा–छात्रों को उनकी रुचि के अनुसार समाज सेवा के कार्यक्रमों मे लगाया जाना चाहिए। कोई भी ज्ञान अथवा शिक्षा उस समय तक सफल नही कही जा सकती, जब तक कि व्यावहारिक रूप से उसका उपयोग न हो। स्वास्थ्य शिक्षा भी छात्रो को व्यावहारिक रूप से दी जानी चाहिए। समाज सेवा कार्यक्रम के अन्तर्गत छात्र ऐसे नगरो तथा गाँवों में जाकर स्वयं सफाई का कार्य करें, जहाँ गन्दगी बहुत रहती हो एवं रोग फैलते हों। इसके लिए सबसे जरूरी बात जो ध्यान में रखी जानी चाहिए वह यह है कि छात्रों में समाज सेवा के प्रति रुचि उत्पन्न करना। इससे छात्र स्वयं समाज सेवा के प्रति उत्सुक होंगे तथा ऐसे समाज सेवा के कार्यक्रमों मे भाग लेगे। इससे न केवल छात्र बल्कि पूरा समाज स्वस्थ रहने के नियमों का पालन करेगा।

6. दूरदर्शन तथा आकाशवाणी का योगदान–दूरदर्शन तथा आकाशवाणी द्वारा स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रसारण होता रहता है। इन प्रसारणो को छात्रों तक पहुँचाना चाहिए, जिससे छात्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास हो सके। विद्यालय में वी० सी० आर० तथा ऑडियो टेप का प्रयोग करके छात्रों में स्वास्थ्य सम्बन्धी जागरूकता को उत्पन्न किया जा सकता है।

स्वास्थ्य शिक्षा का महत्त्व

शिक्षकों का यह एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह है कि वे स्वास्थ्य शिक्षा को भी उतना ही महत्त्व दें, जितना कि वे अन्य सामान्य ज्ञान की पुस्तकों को पढ़ाने पर देते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह देखना चाहिए कि छात्रों के पढ़ने के कक्ष स्वच्छ तथा हवादार है या नहीं। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि छात्र अच्छी आदतों को ही जीवन में उतारें। स्वास्थ्य शिक्षा अथवा किसी भी शिक्षा का महत्त्व उस समय तक नहीं है, जब तक कि वह व्यवहार में न लाई जाये। स्वास्थ्य शिक्षा एक ऐसी शिक्षा है, जिसको जीवन में उतारने से निश्चित रूप से लाभ होगा। स्वास्थ्य शिक्षा न केवल छात्रों को वरन् छात्रों के अभिभावकों को भी दी जानी चाहिए। अनभिज्ञ माता-पिता अपने बच्चों का बिल्कुल ध्यान नहीं रखते हैं। इससे बालक बचपन से ही अस्वस्थ रहता है। अस्वस्थ बच्चे समाज और शिक्षक दोनों के लिए ही भार रूप हैं। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वे प्रारम्भिक वर्षों में बालक के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखें। मानसिक रूप से पिछड़े बालकों का शारीरिक विकास भी प्राय: अवरुद्ध पाया जाता है। इसलिए मानसिक विकास के लिए शारीरिक विकास पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न 4—शारीरिक शिक्षा से क्या अभिप्राय है ? शारीरिक शिक्षा की आवश्यकता, क्षेत्र तथा महत्त्व पर प्रकाश डालिए। शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम किस प्रकार के होने चाहिएँ ?

उत्तर–

शारीरिक शिक्षा का अर्थ

शारीरिक शिक्षा से अभिप्राय शरीर को स्वस्थ रखने से है। शारीरिक शिक्षा को पी० टी० भी कहते हैं। पी० टी० (P.T.) शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द फीजिकल ट्रेनिंग (Physical Training) का संक्षिप्त रूप है, जिसका अर्थ है शारीरिक प्रशिक्षण। खेल-कूद को भी शारीरिक शिक्षा कहा जाता है। जिमनास्टिक को भी शारीरिक शिक्षा कहते हैं। वास्तव में, ये तो शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम हैं। शारीरिक शिक्षा तो अत्यन्त विस्तृत है। शरीर को स्वस्थ रखने की इन सब शारीरिक क्रियाओं को सामूहिक रूप से शारीरिक शिक्षा कहा जा सकता है।

केन्द्रीय सरकार की शारीरिक शिक्षा की सलाहकार समिति ने शारीरिक शिक्षा की निम्नलिखित परिभाषा दी है—'शारीरिक शिक्षा शरीर की शिक्षा है।' शारीरिक शिक्षा की यह परिभाषा अपने आप में अधूरी है।

शारीरिक शिक्षा की सबसे सही परिभाषा **जे० एफ० विलियम** (J. F. Williams) ने दी है। उनके अनुसार, 'शारीरिक शिक्षा व्यक्ति के उन शारीरिक क्रिया-कलापों को कहते हैं, जिनका चुनाव उनके प्रभाव की दृष्टि से किया जाता है।'

यह आवश्यक है कि शारीरिक शिक्षा को शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए। शारीरिक शिक्षा का कार्यक्रम खाली पीरियडों की पूर्ति का साधन नहीं समझा जाना चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि वे इस बात की पूरी जानकारी रखें कि छात्र शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रमों में भाग लेते हैं या नहीं।

शारीरिक शिक्षा की आवश्यकता तथा महत्त्व

विद्यालयों में शारीरिक शिक्षा का बहुत महत्त्व है। छात्र मानसिक रूप से तो पुस्तकीय ज्ञान से विकसित हो जाते हैं, लेकिन शारीरिक रूप से अधिकतर कमजोर पाये जाते हैं। इसलिए शारीरिक शिक्षा भी छात्रों को दी जानी चाहिए। छात्रों का सर्वांगीण विकास तभी है, जबकि वे शारीरिक रूप से भी विकसित हों। बच्चों के शारीरिक विकास के लिए शारीरिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

शारीरिक शिक्षा के व्यावहारिक उपयोग से छात्रों का कद और वजन बढ़ेगा, शरीर के अन्य अवयव सुडौल होंगे, छात्रों में नियमितता आ जायेगी और अच्छी संतति होगी। स्वस्थ बच्चे राष्ट्र की उन्नति में सहयोगी होंगे।

शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रमों से छात्रों का मनोरंजन भी होता है। विभिन्न प्रकार के खेल-कूद जिनसे शरीर का विकास तो होता ही है, साथ ही बच्चों का मनोरंजन भी होता है। आजकल शारीरिक श्रम बहुत कम हो गया है। मशीनों के कारण व्यक्ति शारीरिक परिश्रम नहीं कर पाता है, जिससे वह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी पिछड़ा रहने लगा है। श्रम की क्षति-पूर्ति शारीरिक व्यायामों से की जा सकती है। इन सब बातों को ध्यान मे रखते हुए स्कूलों में शारीरिक शिक्षा और भी आवश्यक हो जाती है।

शारीरिक शिक्षा का क्षेत्र

स्वस्थ रहने के वे सभी उपाय जो व्यक्ति करता है, शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। जैसे—वालीवॉल, फुटवॉल, टेनिस, क्रिकेट, बैडमिन्टन, वॉक्सिग, कुश्ती आदि। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के नृत्य भी इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। जल में तैरना तथा नाव चलाना भी इसके अन्तर्गत ही आता है। शिविर लगाकर विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम बनाना भी शिक्षा का अग है। शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत बहुत से कार्य आ जाते हैं। उन सबको प्रयोग में नही लाया जा सकता। इसलिए छात्रो की रुचि को ध्यान मे रखते हुए उन्हें वे ही कार्य दिये जाने चाहिए, जिससे उनके स्वास्थ्य में भी वृद्धि हो सके।

शारीरिक शिक्षा के उद्देश्य

शारीरिक शिक्षा के उद्देश्यों की जानकारी भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शारीरिक शिक्षा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(1) छात्रों के व्यक्तित्व का विकास करना, तथा उनमें सामाजिकता की भावना का विकास करना शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य है।

(2) छात्रों को शारीरिक शिक्षा देने का उद्देश्य, छात्रों के शरीर का पूर्ण विकास करना है। शरीर को सुन्दर तथा सुडौल बनाना तथा माँसपेशियों को मजबूत बनाना, शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम में आता है।

(3) छात्रों का मनोरंजन करना और खेल-कूद की भावना भरना शारीरिक शिक्षा द्वारा किया जा सकता है।

शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम

शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रमों में छात्र और छात्राओं के कार्यक्रमों में अन्तर होना चाहिये। शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम ऐसे होने चाहियें जिससे कमजोर छात्रों के स्वास्थ्य में सुधार हो। यह कार्यक्रम छात्रों की आयु के अनुसार बनाया जाना चाहिये। छात्रों में इन कार्यक्रमों के प्रति रुचि जाग्रत की जानी चाहिये उन पर किसी प्रकार का दबाव डालकर इन कार्यक्रमों में शामिल नहीं करना चाहिये। शारीरिक शिक्षा कार्यक्रम में वे सभी कार्य सम्मिलित किये जाने चाहिये जो छात्रों में सहयोग की भावना पैदा करें और उन्हें शारीरिक रूप से स्वस्थ बनायें। ➤

प्रश्न 5—स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक कौन-कौन से हैं ? वर्णन कीजिए।

उत्तर–

स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक

मनुष्य का भीतरी शरीर स्वयं में एक पूरी दुनिया है, जिसका सम्पर्क निरन्तर बाहरी वातावरण से बना रहता है। यह सम्पर्क स्वास्थ्यवर्द्धक भी हो सकता है तथा स्वास्थ्यनाशक भी। इसी परिप्रेक्ष्य में यह कहा जाता है कि स्वयं के शरीर की रचना, जो आनुवांशिकी पर निर्भर करती है, के अतिरिक्त बाहरी वातावरण के कई कारण हैं, जो मनुष्य के स्वास्थ्य के स्तर को निर्धारित करते हैं। इन्हें मुख्यत: निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. आनुवांशिकी (Heredity)—शिशु की शरीर-रचना (Genetic make up) माता के गर्भ में ही निर्धारित हो जाती है और इसे किसी भी परिस्थिति में बदला नहीं जा सकता। चिकित्सा विज्ञान ने ऐसी कई बीमारियाँ खोज निकाली हैं, जो आनुवांशिक (Hereditary) होती हैं। इस प्रकार मनुष्य के शरीर तथा स्वास्थ्य पर कुछ किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रभाव आनुवांशिकी का पड़ता है। गर्भधारण के समय माताओं के शरीर से कई प्रकार की कमियों तथा बीमारियों का विपरीत प्रभाव भावी शिशु पर पड़ता है। दूसरी ओर स्वस्थ माता-पिता एक स्वस्थ शिशु को जन्म देते हैं, जिसमें कई प्रकार के बाहरी रोगों से लड़ने की क्षमता जन्मजात होती है।

2. बाहरी वातावरण (Environment)—जो कुछ भी मनुष्य के शरीर के बाहर है, बाहरी वातावरण कहलाता है। इसे मुख्यत: तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) भौतिक वातावरण (Physical Environment)—चारों तरफ के भौतिक फैलाव को भौतिक वातावरण कहा जाता है। इसमे जल, वायु, मकान, मौसम, वस्त्र, कूड़ा-करकट आदि सम्मिलित हैं।

(ii) जैविक वातावरण (Biological Environment)—हमारे चारों तरफ मंडराने वाले जीव-जन्तु, जैसे—मच्छर, मक्खी, सूक्ष्मजीवी, जैसे—जीवाणु, कीटाणु आदि तथा अन्य पेड़-पौधे जैविक वातावरण का अंग हैं।

(iii) सामाजिक वातावरण (Social Environment)—हमारा सामाजिक परिवेश, आस-पास रहने वाले व्यक्ति, हमारी संस्कृति, राजनैतिक व्यवस्था, परम्पराओ आदि को सामाजिक वातावरण की श्रेणी में रखा गया है।

वातावरण के इन तीनो आयामो को अलग-अलग विभाजित करना कई बार व्यावहारिक रूप से सम्भव नही हो पाता, इसीलिए इन्हें सम्मिलित रूप में बाहरी वातावरण कहा गया है।

3. रहन-सहन का तरीका (Life Style)—हमारा आचरण, रहन-सहन का तरीका, आदतें—ये सभी स्वास्थ्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। खराब आदतें, जैसे धूम्रपान, शराब सेवन आदि से कई शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं; अत्यधिक तनाव और थकान से विभिन्न हृदय रोग होने की सम्भावना रहती है आदि। इसी कारण आजकल स्वस्थ रहन-सहन (Healthy life style) पर अधिक जोर दिया जा रहा है तथा अधिक से अधिक व्यक्ति इसे अपनाने को प्रयासरत हैं।

4. सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य (Socio-economic Condition)—स्वास्थ्य के क्षेत्र में सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य का विशेष योगदान है। इसे विभिन्न चरणों में निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

(i) शिक्षा (Education)—शिक्षा हर क्षेत्र में जागरूकता पैदा करती है तथा स्वास्थ्य का क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। एक शिक्षित व्यक्ति प्राय: स्वयं को अज्ञानता के कारण गम्भीर स्थिति में ले जाते हैं।

(ii) राजनैतिक व्यवस्था (Political System)—किसी देश की प्रगति के लिए आवश्यक है कि जन-स्वास्थ्य उसकी राजनैतिक व्यवस्था का मुख्य बिन्दु हो। सही समय पर सही निर्णय तथा उस पर क्रियान्वयन जनता एवं समुदाय को स्वस्थय राह पर ले जायेगा।

(iii) आर्थिक परिप्रेक्ष्य (Economic Condition)—यह सत्य है कि जो परिवार आर्थिक रूप से जितना सुदृढ़ होगा, वह अपने सदस्यों का उतना ही अधिक सुचारू जीवन-निर्वाह कर सकता है। पौष्टिक आहार का सेवन तथा बीमारियों की समय से चिकित्सा आर्थिक समृद्धि होने से अधिक हो सकती है।

(iv) व्यवसाय (Occupation)—मनुष्य का व्यवसाय कई बार उसके स्वास्थ्य का निर्णायक कारक हो जाता है। कई व्यवसाय ऐसे हैं, जहाँ कार्यरत व्यक्ति कुछ विशेष बीमारियों से पीड़ित देखे गये हैं। उदाहरणत: दरी-गलीचे बुनने वालों, संगमरमर-पत्थर का कार्य करने वालों में तपैदिक रोग (T.B.) होने की सम्भावना काफी अधिक रहती है।

5. स्वास्थ्य सेवाएँ (Health Services)—स्वास्थ्य सेवाओं का अर्थ है, ऐसी सेवाएँ प्रदान करना, जिनसे स्वस्थ मनुष्य तथा स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके। इन्हें मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) निरोधक सेवाएँ (Preventive Services)—इस श्रेणी में वे सभी सेवाएँ आती हैं, जो सम्भावित बीमारियों से बचाव के लिए उपलब्ध करायी जाती हैं; जैसे—बच्चों को रोगों से बचाने के लिएं निरोधक टीके, टायफॉइड आदि से बचाव के टीके तथा अन्य।

(ii) उपचार का प्रावधान (Curative Services)—सभी प्रकार की छोटी-मोटी तथा गम्भीर बीमारियों की यथोचित पहचान तथा निदान की सुविधाएँ इसमें समाहित हैं।

(iii) प्रेरक सेवाएँ (Promotive Services)—इसके अन्तर्गत जन-समुदाय को उत्तम स्वास्थ्य रखने तथा बीमारियों से बचाव के लिए प्रेरित किया जाता है। उन्हें स्वास्थ्य के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी देकर वातावरण स्वच्छता आदि का महत्त्व समझाया जाता है।

प्रश्न 6—शिशुओं के मुख्य रोगों, उनके कारण तथा उनके उपचार का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

शिशुओं के मुख्य रोग

(1) जल तथा भोजन द्वारा फैलने वाले रोग–कुछ रोग जल के द्वारा भी फैलते हैं। जल द्वारा फैलने वाले रोगों में हैजा तथा पेचिस प्रमुख हैं। भोजन के द्वारा भी ऐसे रोग फैलते हैं। टाइफॉइड या मोतीझरा भी जल द्वारा फैलने वाला रोग है।

(2) संसर्ग द्वारा फैलने वाले रोग–संसर्ग द्वारा फैलने वाले रोगों में टिटनेस, कोढ़, खुजली, आँख आना, एग्जीमा, कर्णफेर, दाद आदि आते है।

(3) वायु द्वारा फैलने वाले रोग–वायु द्वारा फैलने वाले रोगों में चेचक, खसरा, छोटी माता, जुकाम, डिप्थीरिया, इन्फ्लूएंजा तथा तपैदिक आदि है। वायु के द्वारा इन रोगों के जीवाणु व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर उसे रोगी बना देते हैं।

(4) कीट द्वारा फैलने वाले रोग–कीट द्वारा फैलने वाले रोगों में मलेरिया, प्लेग, फाइलेरिया तथा पीत ज्वर आते हैं।

1. छोटी माता

रोग के कारण–यह रोग विषाणुओं से फैलता है। विषाणु वायु के द्वारा फैलकर रोग को फैलाते हैं। रोगी का मल, मूत्र, थूक, नाक आदि भी रोग फैलाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं।

रोग के लक्षण–छोटी माता के विषाणु शरीर में प्रवेश करके इन लक्षणों को प्रकट करते हैं—

(i) सिरदर्द, बेचैनी, आँखों का भारीपन बढ़ जाता है।

(ii) एक या दो दिन के बाद शरीर में छोटे-छोटे दाने निकलने लगते हैं।

(iii) ये दाने कम गहरे होते हैं, इसलिये त्वचा पर इनके निशान प्राय: नहीं रहते।

(iv) रोगी को ज्वर होने लगता है।

(v) नाक से पानी निकलने लगता है।

(vi) फिर ये दाने सूखकर गिरने लगते हैं।

रोगी का इलाज–रोग के लक्षण जैसे ही दिखाई दें, रोगों की व्यवस्था अलग कमरे में करनी चाहिये। साथ ही निम्न व्यवस्थायें भी करनी चाहियें—

(i) रोगी के कमरे, कपड़े तथा बर्तनों की सफाई कीटाणुनाशक घोल के पानी से होनी चाहिये।

(ii) रोगी को हल्के नमक वाला भोजन देना चाहिये अन्यथा रोगी को खुजली की अनुभूति होने लगेगी।

(iii) रोगी के आराम की पूरी व्यवस्था होनी आवश्यक है।

(iv) यदि खुजलाहट अनुभव हो तो रूई के फोयें से हल्का-हल्का सहलाना चाहिये।

रोग से बचने के उपाय–इस रोग से बचने के लिये निम्न उपायों को करना चाहिये—

(i) रोगी के वस्त्रों को कीटाणुनाशक घोल से साफ करना चाहिये।

(ii) रोगी के मल-मूत्र को अलग गड्ढे में दबवा देना चाहिये।

(iii) रोगी के शरीर के दानों की सूखी पपड़ी को इकट्ठा कर जला देना चाहिये।

(iv) रोगी के सम्पर्क में अन्य व्यक्तियों को न आने देना चाहिये। केवल एक व्यक्ति ही उसकी परिचर्या में रहे।

(v) रोगी के बिस्तरे को उबलते पानी में धोना चाहिये।

(vi) बच्चे को छोटी माता निकलने पर कम से कम एक सप्ताह तक विद्यालय नहीं भेजना चाहिये।

2. कुक्कुर खाँसी या काली खाँसी

कुक्कुर खाँसी एक भयंकर रोग है जो बच्चों के फेफड़े तथा हृदय को प्रभावित करता है। बच्चों को इस कुक्कुर खाँसी के विषाणु अधिक प्रभावित करते हैं। यह रोग 7 से 20 दिन तक परेशान करता है।

कारण–इस रोग के विषाणु रोगी के थूक तथा लार में होते हैं। ये विषाणु वस्त्रों और खिलौनों में भी लग जाते हैं। अन्य बच्चे जब इन्हें मुँह से लगाते हैं तो उन्हें भी कुक्कुर खाँसी हो जाती है। इस रोग को काली खाँसी भी कहते हैं।

(i) आरम्भ में रोगी बालक को रह-रहकर खाँसी आती है और लगभग 5 मिनट तक बनी रहती है।

(ii) रोगी बालक की नाक बहने लगती है और छींक आने लगती है तथा उसकी आँखें और मुख लाल हो जाता है।

(iii) कुक्कुर खाँसी के लक्षण कमजोर छाती वाले बालक के शरीर में जीवाणुओं के प्रवेश पा जाने के 6 से 10 दिन के भीतर प्रकट हो जाते हैं।

(iv) रोगी बालक खाँसते-खाँसते उल्टी कर देता है।

(v) प्रतिदिन रोगी बालक निर्बल और निस्तेज होता जाता है।

लक्षण–इस रोग के जीवाणु बालक के जोर से बोलने, खाँसने तथा छींकने के साथ साँस में मिलकर स्वस्थ बालक के शरीर में प्रविष्ट होते है। इसके संक्रमित रोगी बालक का जूठा खाने तथा उसके गिलास में पानी पीने से भी यह रोग फैलता है। रोगी बालक का थूक, बलगम तथा नाक से बहने वाला तरल पदार्थ भी इस रोग को फैलाता है।

रोग का उपचार–रोगी बालक को स्वच्छ एवं हवादार कमरे में अलग सुलाना चाहिये। रोगी को अधिक से अधिक आराम देना चाहिये। रोगी को ताजा, सादा और हल्का आहार देना चाहिये। गर्म पेय थोड़ी मात्रा में 60-90 मिनट के अन्तर से उसकी शक्ति स्थिर रखने के लिये पिलाते रहना चाहिये। डॉक्टर के परामर्श से कुक्कुर खाँसी की औषधि का प्रयोग करना चाहिये। रोगी को खाँसी की तीव्रता के कारण कोई चीज नहीं पचती। उल्टी हो जाने के कारण रोगी के फेफड़ों के तन्तुओं की प्रतिरोध शक्ति क्षीण हो जाती है। उसको निमोनिया तथा क्षय रोग से ग्रसित होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। इसलिये रोगी बालक की ठण्ड व सीलन से रक्षा करनी चाहिये।

रोग से बचने के उपाय–(i) स्वस्थ बालकों को काली खाँसी का टीका लगवाना चाहिये।

(ii) स्वस्थ बालक का आहार हल्का तथा पौष्टिक होना चाहिये।

(iii) बालक के रोगमुक्त होने के बाद उसके वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं तथा आवास स्थान को निसंक्रमित करवा देना चाहिये।

(iv) स्वस्थ बालकों से रोगी बालक को दूर रखना चाहिये। उसकी किसी भी वस्तु का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(v) डेढ़ वर्ष की आयु तक बालक को ट्रिपल वैक्सीन नामक इन्जेक्शन लगवा देना चाहिये, फिर यह रोग जीवन भर नहीं होता है। इस इन्जेक्शन से बालक में कृत्रिम रोग निरोधक शक्ति विकसित हो जाती है, वह बालक की रक्षा करती है।

(vi) ठण्ड एवं खाँसी से स्वस्थ बालकों की विशेष रक्षा करनी चाहिये। खाँसी की शिकायत होने पर उचित औषधियों द्वारा उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिये नहीं तो वह बढ़कर भयंकर रूप धारण कर सकती है। ➤

प्रश्न 7—चेचक रोग के कारण, लक्षण तथा रोग से बचने के उपायों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

चेचक

(Small Pox)

यह एक संक्रामक रोग है और वायु के द्वारा फैलता है। हमारे देश में इस रोग को राष्ट्रीय स्तर पर समाप्त करने के लिये एक अभियान चलाया गया। एक समय था जब चेचक महामारी के रूप में हजारों लोगों को प्रभावित करती थी, बच्चों के लिये यह रोग जानलेवा सिद्ध होता है।

रोग का कारण–यह रोग एक विषाणु के द्वारा फैलता है। साँस के साथ इस रोग के रोगाणु गले, नाक तथा कान में प्रविष्ट होते हैं। रोग के विषाणु चमड़े पर होते हैं। धीरे-धीरे पूरे शरीर में फैल जाते हैं। व्यक्ति को बुखार होने लगता है। शरीर में फफोले पड़ जाते हैं। इनमें मवाद पड़ जाती है। धीरे-धीरे ये फफोले सूखने लगते हैं। फफोलों की पपड़ी सूख जाती है तथा झड़ जाती है।

चेचक फैलने के कुछ कारण निम्न प्रकार हैं—

(i) दूषित पदार्थों के सेवन से भी चेचक के विषाणु फैलते हैं।

(ii) हवा तथा धूल के द्वारा भी चेचक के विषाणु अथवा वायरस फैलते हैं।

(iii) मौसम बदलने के समय अर्थात् फरवरी, मार्च में यह रोग अधिक फैलता है।

रोग के लक्षण–चेचक के विषाणुओं के शरीर में प्रवेश करने के बाद रोगी मे ये लक्षण प्रकट होने लगते हैं—

(i) नाक बहने लगती है।

(ii) रोगी के शरीर मे दर्द होता है।

(iii) तीन दिन के बाद शरीर पर दाने निकल आते हैं। शुरू में ये दाने चेहरे पर प्रकट होते हैं। बाद में ये पूरे शरीर पर फैल जाते हैं। ये दाने लाल होते हैं, बाद में इनमे मवाद पड़ जाती है।

(iv) 103°-104° फारेनहाइट तक बुखार हो जाता है।

(v) दानो मे जलन होने लगती है। जैसे-जैसे दानों में जलन कम होती जाती है, रोगी अच्छा होने लगता है।

चेचक का उपचार–चेचक का कोई विशेष इलाज नहीं है। चिकित्सकों की औषधि से थोड़े समय के लिये आराम मिल सकता है। चेचक के रोग के लक्षण प्रकट होते ही रोगी को छूत के अस्पताल में ले जाना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो कमरे में अलग से रोगी की व्यवस्था की जानी चाहिये। साथ ही रोगी के शरीर की सफाई भी सावधानीपूर्वक करनी चाहिये, जिससे उसके शरीर के फफोले की पपड़ी इधर-उधर न पड़े। जीवाणुनाशक घोल पानी में मिलाकर रूई के फोये को उसमें भिगोकर, उससे रोगी के घावों की सफाई करनी चाहिये। यदि आँख अथवा कान में दाना निकला है तो चिकित्सक से बड़ी कुशलता से इलाज करवाना चाहिये।

रोग से बचने के उपाय–चेचक का रोग एक सामाजिक रोग है, जो संसर्ग द्वारा फैलता है। यह संसर्ग चाहे वायु द्वारा हो अथवा मनुष्य द्वारा। चेचक एक भयंकर रोग है। इस रोग से बचाव के लिये निम्न उपाय किये जाने चाहियें—

(i) यह पता लगने पर कि घर में किसी व्यक्ति या बालक को चेचक निकल रही है, उस व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से बचाना चाहिये।

(ii) चेचक की कोई औषधि नहीं होती, अत: उत्तम से उत्तम परिचर्या तथा देखभाल ही इसका एकमात्र इलाज है।

(iii) रोगी को हल्का भोजन मिलना चाहिये।

(iv) रोगी के बर्तन तथा उसके उपयोग की सभी वस्तुओं को कीटनाशक घोल से धोकर निसंक्रमित कर लेना चाहिये।

(v) रोगी की व्यवस्था अलग कमरे में करनी चाहिये।

(vi) रोगी के वस्त्रों का निसंक्रमण होना चाहिये।

(vii) जब रोगी के दानों की पपड़ी सूखकर गिरने लगे तो उन्हें सावधानी से एकत्र कर जला देना चाहिये।

प्रतिबन्धक उपाय–चेचक का रोग एक महामारी के रूप में फैलता है। इससे बचाव के लिये जन्म से ही टीका लगाना चाहिये। चेचक का वैक्सीन टीके द्वारा शरीर में प्रवेश करा देने से पूरे शरीर में चेचक का प्रतिरक्षण हो जाता है। हाथ में उस स्थान पर जहाँ टीका लगा है, फफोले उठकर मवाद से भरकर धीरे-धीरे सूख जाते हैं। एक बार के टीके से 5 से 10 वर्ष तक के लिये प्रतिरक्षण हो जाता है।

(i) शिशु को पहले तीन महीने के भीतर ही टीका लगवा देना चाहिये।

(ii) दूसरा टीका बच्चे की तीन वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर लगवा देना चाहिये।

(iii) चेचक फैलने की दशा में इस टीके को प्रत्येक व्यक्ति को लगवा लेना चाहिये। ➤

प्रश्न 8—निर्देशन से आप क्या समझते हैं ? निर्देशन की प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

निर्देशन का अर्थ

(Meaning of Guidance)

निर्देशन एक क्रिया है, जिसके अनुसार एक व्यक्ति को सहायता प्रदान की जाती है, जिससे वह अपने निर्णय ले सके, निष्कर्ष निकाल सके और अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सके। निर्देशन के द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व, अपनी क्षमता, योग्यता तथा मानसिक स्तर का ज्ञान प्राप्त करता है।

निर्देशन किसी भी समस्या का समाधान स्वयं नहीं करता है वरन् व्यक्ति को ही समस्या का समाधान करने योग्य बनाता है। इस प्रकार निर्देशन का उद्देश्य है कि व्यक्ति को उसकी शक्तियों का ज्ञान इस प्रकार कराये कि वह अपनी शक्तियों को पहचान सके।

व्यक्ति तथा समाज का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को प्रभावशाली बनाने हेतु यह आवश्यक है कि व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही समान रूप से विकास होता रहे। यह तभी सम्भव है जब दोनों एक-दूसरे के विकास में अपनी-अपनी भूमिका निभाते रहें। व्यक्ति स्वयं को समझे, ताकि उसकी योग्यताओं, क्षमता तथा रुचियों का अधिकतम सम्भावित विकास हो सके। आने समग्र परिवेश में अपने वाली विभिन्न परिस्थितियों में वह अपना समायोजन कर सके। व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपनी समस्याओं का समाधान खोजने तथा विभिन्न परिस्थितियों मे बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय ले सके। निर्देशन दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय, तीनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह तीनों प्रकार की सम्बन्धित पद्धति पर आधारित प्रत्यय अथवा प्रक्रिया है। दार्शनिक दृष्टि से यह व्यक्ति के समग्र विकास को अपना आधार बनाकर सहायक होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस प्रक्रिया के द्वारा अधिक कुशल तथा योग्य व्यक्ति अपने से कम सक्षम व्यक्ति को इस प्रकार सहायता प्रदान करता है, जिससे वह सामाजिक परिस्थितियों में समायोजन कर पाने में समर्थ हो सके। इस प्रक्रिया में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए इस प्रकार से सहायक होता है, जिससे समाज-कल्याण के अवसरों में अधिक से अधिक वृद्धि हो सके।

रिक्सियों और **जेरोन** के अनुसार निर्देशन के निम्नलिखित आठ कार्य हैं—

1. अपनी मानसिक क्षमताओं के सन्दर्भ में व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं को पहचान सके, उस कार्य में उसको सहायता करना।
2. व्यक्ति की इस प्रकार सहायता करना कि वह इतना अच्छा आदमी बन जाए, जितनी कि उसमें क्षमता है।
3. वांछित मूल्यों के विकास में व्यक्ति की सहायता करना।
4. व्यक्ति को अपनी रुचियों, अभिरुचियों, अभिवृत्तियों तथा योग्यताओं की जानकारी प्राप्त करने में सहायता करना।
5. व्यक्ति को अधिक से अधिक आत्म-निर्देशन बनाने में सहायता करना।
6. व्यक्ति की इस उद्देश्य से सहायता करना कि वह अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को समझे, स्वीकार करे तथा उन्हें काम में लाये।
7. व्यक्ति को ऐसे अवसर उपलब्ध कराना, जिससे कि अपने कार्य-क्षेत्र तथा शैक्षिक प्रयासों के विषय में और अधिक सीख सके।
8. व्यक्ति को ऐसे अनुभव प्राप्त करने में सहायता करना, जो कि उसकी निर्णय शक्ति में वृद्धि करते हैं।

निर्देशन की प्रकृति पर विचार करते हुये यह स्पष्ट हो गया है कि इसमें व्यक्तित्व के विकास के लिए उसके आपसी सम्बन्धों तथा शिक्षा संस्थाओं की उपयोगिता का संकेत किया गया है। ➤

प्रश्न 9—निर्देशन के उद्देश्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

उत्तर–

निर्देशन के उद्देश्य

साधारणत: निर्देशन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. व्यक्ति को उसकी योग्यताओं, क्षमताओं, रुचियों व शक्तियों को विकसित करने में सहयोग देना।
2. व्यक्ति को संतुलित, शारीरिक, मानसिक, भावात्मक एवं सामाजिक प्रगति में इस प्रकार सहायता देना, जिससे वह अपने वातावरण के साथ सन्तोषजनक ढंग से समायोजित हो सके।
3. व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप शैक्षिक एवं व्यावसायिक अवसरों का ज्ञान कराना।
4. व्यक्ति को इस योग्य बनाना कि वह विभिन्न परिस्थितियों में अपनी समस्याओं को इस प्रकार सुलझा सके कि इससे वह स्वयं का तथा समाज का अधिकाधिक हित कर सके।

बागर मेहदी (Bager Mehdi) के अनुसार, निर्देशन के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

1. विद्यार्थियों को शिक्षा के नये उद्देश्यों से परिचित करवाने में सहायता।
2. छात्रों को श्रेष्ठ नियोजन की आवश्यकता से परिचित करवाने में सहायता।
3. छात्रों को अध्ययन के लिए उचित अभिप्रेरणा उत्पन्न करना।

4. छात्रों को उनकी रुचि के विषयों के चयन मे सहायता देकर शिक्षा के समायोजन में सहायता।

5. छात्रो मे. विषय से सम्बन्धित कठिनाइयों को दूर करके और अच्छे अध्ययन कौशलों का विकास करके शिक्षा में उन्नति करने म सहायता करना।

हम्फरी तथा ट्रैक्सलर (Humphery and Traxler) ने निर्देशन के निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं—

1. स्वयं को समझना।

2. अपनी प्रतिभाओं, रुचियों एवं अन्य गुणों का पूर्ण लाभ उठाना।

3. समाज में योगदान के लिए अपना पूर्ण सहयोग देना।

4. अपने पूर्ण परिवेश में विभिन्न स्थितियों में सामंजस्य स्थापित करना।

5. व्यक्ति में अपने निर्णय स्वयं लेने की योग्यता का विकास करना।

6. व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप शैक्षिक एवं व्यावसायिक अवसरों का ज्ञान करवाना।

7. व्यक्ति को इस योग्य बनाना कि वह विभिन्न परिस्थितियों में अपनी समस्याओं का इस प्रकार समाधान करने योग्य हो जाये कि वह स्वयं का तथा समाज का अधिक हित कर सके।

इरिक्सन (Erickson) के अनुसार निर्देशन के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

1. व्यक्ति का सावधानीपूर्वक अध्ययन (Careful Study of Individual)—निर्देशन कार्यक्रम को प्रभावी बनाने हेतु व्यक्ति का पूर्ण अध्ययन आवश्यक है। निर्देशन में परीक्षाओं तथा तकनीकी विधियों की सहायता से ऐसा किया जाता है।

2. परामर्श (Counselling)—परामर्श से आशय उस वैयक्तिक सहायता से है, जो किसी व्यक्ति को उसके समायोजन की समस्या के सन्दर्भ में दी जाती है। निर्देशन में समायोजन की आवश्यकता तब होती है, जब विद्यार्थियों को विशिष्ट एवं वैयक्तिक सहायता की आवश्यकता हो।

3. नियुक्ति और अनुकरण (Placement and Follow up)—निर्देशन कार्यक्रम छात्रों को विभिन्न संस्थाओं एवं व्यवसायों में नियुक्त करने में सहायता देता है। वह बाद में इस बात का भी अध्ययन करता है कि वे अपने काम में कहाँ तक सफल हैं ? यह उन्हें सफलता प्राप्ति में सहायता देता है।

4. स्कूल स्टाफ की सहायता करना (Assisting the School Staff)—निर्देशन कार्यक्रम द्वारा समूचे स्कूल की सेवा प्रदान की जाती है। यह सभी को महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्रदान करता है। वस्तुत: निर्देशन कार्यक्रम का उद्देश्य स्कूल की सभी क्रियाओं को सशक्त बनाना और विकसित करना है।

5. सूचनात्मक सेवायें (Informational Services)—छात्र अपनी समस्याओं का समाधान तभी कर सकेंगे, जब उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनायें उपलब्ध हों। निर्देशन कार्यक्रम द्वारा ये सूचनायें प्रदान की जानी चाहिए। ऐसी सूचनाओं के लिए विभिन्न सूचना सेवाओं जैसे वैयक्तिक परिसूची सेवा व व्यावसायिक सूचना सेवा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

6. सामंजस्य (Coordination)—अन्त में, निर्देशन बालक पर स्कूल, घर और समुदाय के प्रभावों में सामंजस्य अर्थात् तालमेल उत्पन्न करने का प्रयास करता है। ➤

प्रश्न 10–निम्नलिखित में अन्तर स्पष्ट कीजिए–

(i) निर्देशन एवं शिक्षा, (ii) निर्देशन एवं शिक्षण,

उत्तर–(i) **निर्देशन एवं शिक्षा** (Guidance and Education)—निर्देशन तथा शिक्षा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। इसके उद्देश्य समाज, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। ये समस्त परिवर्तन जीवन के उद्देश्यों के समरूप होते हैं। जीवन के इन समस्त उद्देश्यों का अध्ययन दर्शन के आधार पर किया जाता है। इसलिए स्वाभाविक रूप से शिक्षा के उद्देश्य पर दर्शन का प्रभाव पड़ता है अथवा हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा तथा दर्शन में गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि निर्देशन शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक है। अत: अप्रत्यक्ष रूप से शैक्षिक दर्शन द्वारा निर्देशन भी प्रभावित होता है। इस प्रकार

दर्शन, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा के जिन उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है, उन उद्देश्यों की प्राप्ति मे निर्देशन के द्वारा सहायता प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ–शिक्षा को व्यक्ति के चतुर्मुखी विकास की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति का मानसिक, भावात्मक तथा क्रियात्मक विकास इस प्रकार किया जाता है, जिससे उसकी बौद्धिक क्षमताओ का विकास हो सके, वह अपनी भावनाओ को सन्तुलित रख सके और समुचित ज्ञान प्राप्त करके, स्वयं में उन गुणो का विकास कर सके जो समायोजन तथा सामाजिक प्रगति में भी सहायक हो सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब व्यक्ति को अपने स्तर तथा रुचि के अनुरूप अनिवार्य और अग्रिम शिक्षा प्राप्त करने का अवसर सुलभ हो सके, वह समस्त शैक्षिक अवसरो का समुचित लाभ उठा सके तथा समायोजन 'भावात्मक सन्तुलन' आदि से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान खोजने और उपयुक्त अवसरों से व्यक्ति को लाभान्वित कराने में निर्देशन शिक्षा का सहभागी है।

(ii) निर्देशन एवं शिक्षण (Guidance and Teaching)—शिक्षण-प्रक्रिया औपचारिक शिक्षा का माध्यम है तथा इसके द्वारा व्यवहार मे परिवर्तन लाये जाते हैं। इसी प्रकार व्यवहार में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से ही निर्देशन द्वारा भी सहायता प्रदान की जाती है। यह व्यवहार-परिवर्तन के विशेष रूप से मानसिक पक्ष से सम्बन्धित होता है। निर्देशन का उद्देश्य इस व्यवहार-परिवर्तन में छात्रों को इस प्रकार सहायता प्राप्त करता है, जिससे कि वे वांछित विकास हेतु समुचित अवसरों का लाभ उठा सकें, अपनी योग्यताओं एवं समस्याओं से परिचित हो सकें तथा शिक्षण-अधिगम के अन्तर्गत होने वाली समस्याओं का समाधान करने योग्य बन सकें। अतएव निर्देशन द्वारा छात्र या कोई भी व्यक्ति यह जान लेता है कि उसमें कौन-कौन सी योग्यतायें या क्षमतायें विद्यमान हैं तथा सीखने की प्रक्रिया में उसकी क्या समस्यायें हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है। स्पष्ट है कि शिक्षण के उद्देश्यों को प्राप्त करने में निर्देशन द्वारा सहायता प्राप्त होती है, किन्तु जहाँ निर्देशन एवं शिक्षण में घनिष्ठ सम्बन्ध है, वहाँ इन दोनों प्रत्ययों में पर्याप्त अन्तर भी है। इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रदर्शित किया गया है—

	निर्देशन (Guidance)	शिक्षण (Teaching)
1.	निर्देशन प्रक्रिया जीवन भर निरन्तर चलती रहती है। इसकी अवधि निश्चित नहीं की जा सकती।	शिक्षण प्रक्रिया की एक निश्चित अवधि होती है।
2.	निर्देशन अनौपचारिक होता है।	शिक्षण औपचारिक होता है।
3.	पाठ्यक्रम के चयन की समस्या के समाधान तक सीमित होता है।	सुनिश्चित पाठ्यक्रम पर आधारित होता है।
4.	किसी भी स्थान पर प्रदान किया जा सकता है।	कक्षाओं में प्रदान किया जाता है।
5.	किसी भी व्यक्ति द्वारा प्रदान किया जा सकता है।	शिक्षक द्वारा प्रदान किया जाता है।
6.	निर्देशन द्वारा अधिगम की उचित विधियों की ओर संकेत किया जाता है।	शिक्षण-अधिगम के आधार पर व्यवहार-परिवर्तन पर केन्द्रित होता है।
7.	निर्देशन के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति आवश्यक नहीं है।	शिक्षक का प्रशिक्षित होना आवश्यक है।
8.	निर्देशन में अनौपचारिक माध्यमों का प्रयोग किया जाता है, जिससे निर्देशन देने वाले तथा निर्देशन लेने वाले व्यक्ति में सामंजस्य या सम्पर्क स्थापित हो सके।	शिक्षण-प्रक्रिया में अध्यापक और छात्र में अन्त:क्रिया का होना आवश्यक है।
9.	निर्देशन द्वारा ज्ञानात्मक पक्ष के साथ-साथ व्यक्ति के शारीरिक पक्ष का विकास होता है।	शिक्षण द्वारा ज्ञानात्मक पक्ष का विकास होता है।

PAPER-V

शिक्षण व मूल्य आधारित शिक्षा के आधुनिक तरीकें

[MODERN METHODS OF TEACHING AND VALUE BASED EDUCATION]

प्रश्न 1– मूल्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा मूल्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

अथवा

मूल्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए, परिभाषित कीजिए तथा मूल्य की प्रकृति को समझाइए।

उत्तर–

मूल्य की अवधारणा

मूल्य की अवधारणा मनुष्य के प्रत्येक चुनाव, निश्चय, निर्णय तथा कार्य में विद्यमान है। जब हम दो वस्तुओं या दो मनोरथों मे चुनाव करते हैं तो उस मनोरथ को प्राप्त करने का निश्चय करते हैं जो अधिक श्रेष्ठ है और इसी निर्णय के अनुसार जीवन में कार्य करते हैं। इस चुनाव, निर्णय तथा निश्चय में उन वस्तुओं या मनोरथों के मूल्य की अवधारणा छिपी है। एक का मूल्य दूसरे से अधिक ठहराया गया है। यदि ऐसा मूल्यांकन न होता, तो निर्णय कभी नहीं हो सकता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में प्रतिदिन ऐसे निर्णय करता रहता है। ये निर्णय उसे हर कदम पर करने पड़ते हैं, अन्यथा उसके लिए कार्य करना असम्भव हो जाएगा। वह एक वस्तु को पसन्द करता है, दूसरी को नापसन्द; एक व्यक्ति की प्रशंसा करता है, दूसरे की निन्दा करता है, एक कार्य को शुभ मानता है और दूसरे को अशुभ; एक विधि को ठीक और दूसरी को गलत समझता है, एक दृश्य को सुन्दर ठहराता है और दूसरे को असुन्दर। ये सारे निर्णय मूल्य की अवधारणा पर आधारित हैं। इनमें वस्तुओं का कोई मूल्य आंका जाता है और मूल्यांकन को कोई विशेष आधार या मापदण्ड प्रयोग में आता है।

मूल्य प्रणाली—इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए एक मूल्य प्रणाली (Value System) रखता है जिसमें जीवन के मूल्य एवं उनको बढ़िया या घटिया ठहराने का सिद्धान्त विद्यमान है। प्रत्येक समाज की भी अपनी एक मूल्य-प्रणाली है। इसी मूल्य-प्रणाली को 'सस्कृति' कहते हैं। ये मूल्य ही मनुष्य के लिए आदर्श, उद्देश्य, लक्ष्य, गन्तव्य, मनोरथ एवं साध्य बनते हैं और वह जीवन को इनकी प्राप्ति के लिए लगा देता है। मूल्य ही जीवन को सार्थक बनाते हैं। मूल्य ही मनुष्य के मन में विश्वास, श्रद्धा, प्रेरणा, वफादारी, जिम्मेदारी, कर्त्तव्य-भावना आदि उत्पन्न करते हैं। मनुष्य अपने जीवन-दृष्टिकोण को मूल्य के आधार पर ही आधारित करता है। यदि जीवन में से प्रेम, सुन्दरता, न्याय, सत्य मित्रता आदि निकाल दें, तो वह एक निरर्थक कार्यचक्र बन जाएगा जिसको कोई जीना नहीं चाहेगा। मूल्य ही मनुष्य के जीवन को अर्थ, आकर्षण, उच्चता तथा श्रेष्ठता प्रदान करते हैं।

मूल्य का अर्थ

मूल्य क्या है? मूल्य वह है जो मानव-इच्छा को पूरा करता है। मानव की इच्छाओं को पूरा क्यों करना चाहिए? इसका उत्तर होगा कि जीवित रहने के लिए इच्छाएँ पूरी करनी पड़ती हैं। परन्तु हम जीवित क्यों रहना चाहते हैं? इसके उत्तर में हम अपने जीवन के कुछ लक्ष्य या उद्देश्य बताएँगे जिनके लिए हम जीते हैं। एक व्यक्ति कहता है कि वह कला की साधना के लिए, दूसरा कहता है कि वह सत्य की खोज के लिए और तीसरा कहता है कि वह ईश्वर प्राप्ति के लिए जीवित रहना चाहता है। एक कलाकार कला की रचना क्यों करना चाहता है क्योंकि उसके अनुसार कला तो कला के लिए है। इसी तरह सत्य-सत्य के लिए, भलाई-भलाई के लिए, कर्त्तव्य-कर्त्तव्य के लिए तथा ईश्वर-ईश्वर के लिए है। इस तरह हम ऐसे मूल्यों की अवधारण पर पहुँच जाते हैं। जो अन्तिम मूल्य हैं, जिनको अपने-आप में मूल्य मानना चाहिए, वे परम मूल्य हैं। दर्शन में इन्हीं स्वत: मूल्यों (Intrinsic Values) को मौलिक माना जाता है क्योंकि ये मनुष्य के उद्देश्य के मूल्य पर निर्भर है। यदि उद्देश्य मूल्यवान है तो उसको प्राप्त करने का साधन भी मूल्यवान होगा, जैसे चश्मे का देखने के लिए प्रयोग होता है, यही उसका मूल्य है। वास्तव में परत: मूल्य अपने आप में मूल्य ही नहीं है। स्वत: मूल्य ही मूल्य है।

मूल्य की परिभाषायें

1. सी० वी० गुड (C.V. Good)—मूल्य वह चारित्रिक विशेषता है जो मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। लगभग सभी विचार मूल्यों के अभीष्ट-चरित्र को स्वीकार करते हैं।

2. ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश (Oxford English Dictionary)—इसमें मूल्य को 'महत्ता, उपयोगिता, वांछनीयता तथा उन गुणों के रूप मे परिभाषित किया गया है, जिन पर ये निर्भर हैं।' **मिल्टन** का मानना है कि जीवन मूल्य ओस की बूंदो के सदृश नहीं है जो मौसम के अनुसार दिखाई दें। इनकी जड़ें प्रत्येक प्राणी से बहुत गहरी होती हैं तथा इनका वास्तविकता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3. आलपोर्ट (Allport)—मूल्य एक मानव-विश्वास है जिसके आधार पर मनुष्य वरीयता प्रदान करते हुए कार्य करता है।

4. जै० आर० फ्रैंकल (J.R. Francal)—मूल्य आचार, सौन्दर्य कुशलता या महत्त्व के वे मानदण्ड हैं जिनका लोग समर्थन करते हैं, जिनके साथ वे जीते हैं तथा वे कायम रखते हैं।

5. आर० बी० पर्सी (R.B. Percy)--मूल्य किसी व्यक्ति के लिए रुचि का ऐसा विषय है जिसकी उत्पत्ति विषय तथा रुचि के बीच विशिष्ट सम्बन्धों से होती है।

6. आर० के० मुखर्जी (R.K. Mukherjee)—मूल्यों को सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य उन इच्छाओं तथा लक्ष्यों के रूप मे परिभाषित किया जाता है जिन्हें अनुबन्धन, अधिगम या समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा आभ्यन्तरीकृत किया जाता है तथा जो आत्मनिष्ठ प्राथमिकताओं, मानकों तथा आकांक्षाओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। ➤

प्रश्न 2. मूल्यों के वर्गीकरण को संक्षेप में समझाइये।

उत्तर–

मूल्यों का वर्गीकरण

मूल्य दो प्रकार के होते हैं (1) आन्तरिक अथवा स्वत: प्रेरित (Intrinsic); (2) बाह्य अथवा परत:प्रेरित (Extrinsic)। जो मूल्य अन्य मूल्यों के लिए साधन मात्र गिने जाते हैं अथवा उनकी प्राप्ति में सहायक होते हैं, वे बाह्य अथवा सहायक मूल्य (Instrumental or Extrinsic values) कहलाते हैं, जैसे भोजन से स्वास्थ्य अच्छा होता है; अत: भोजन बाह्य अथवा सहायक मूल्य और स्वास्थ्य आन्तरिक मूल्य कहा जा सकता है। कभी-कभी एक ही वस्तु सहायक मूल्य एवं आन्तरिक मूल्य रख सकती है; किन्तु स्वतन्त्र दृष्टि से देखने में वह स्वयं भी शुभ हो सकती है, उदाहरणार्थ, परम-सुख (Happiness) स्वयं ही शुभ माना जा सकता है; परन्तु उसके द्वारा दूसरों का भी कल्याण अथवा सुख प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण वह आन्तरिक एवं सहायक मूल्य कहा जा सकता है। कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि विश्व में यथार्थ में आन्तरिक मूल्य, उदाहरणार्थ, सच्चिदानन्द निर्गुण ब्रह्म ही है; सहायक मूल्य या तो है ही नहीं या स्वप्नवात है। अन्य दार्शनिकों के अनुसार, जगत् में केवल सहायक मूल्य ही हैं, जिनके द्वारा मनुष्यों की इच्छाओं की पूर्ति होती है अथवा उनके जीवन के कार्य सिद्ध होते हैं। इनके मतानुसार, आन्तरिक मूल्य विश्व में हैं ही नहीं; वे केवल भटकते हुए दार्शनिकों की परिकल्पनाएँ ही हैं अथवा केवल नाम मात्र ही हैं। कुछ द्वैतवादी आन्तरिक मूल्यों को नित्य (External) और बाह्य अथवा सहायक मूल्यों को अनित्य एवं क्षणिक मानते हैं। परन्तु आधुनिक काल में मूल्य-शास्त्रवेत्ताओं (Axiologists) में अधिकांश लोगों का मत दोनों प्रकार के मूल्यों अर्थात् आन्तरिक और सहायक मूल्यों का अस्तित्व स्वीकार करता है; किन्तु आन्तरिक मूल्यों को प्राथमिक (Primary) और सहायक मूल्य को द्वैतिक अथवा गौण (Secondary) मानता है। कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं जिनका कथन है कि सहायक मूल्य ही प्राथमिक हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा आन्तरिक मूल्य की प्राप्ति हो जाती है; अत: यदि वे न हों तो आन्तरिक मूल्यों की प्राप्ति ही नहीं तो सकती है। किन्तु, यथार्थ में, इन विरोधों का समन्वय भी हो सकता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं; अथवा दोनों पक्षों (Aspects) की क्रिया-प्रतिक्रिया जगत के समस्त क्षेत्र में पायी जाती है।

आन्तरिक मूल्य

आन्तरिक मूल्यों के लक्षणों के विषय में मूल्य-शास्त्र में कई परिकल्पनाएँ हैं; और उन्हीं के आधार पर इन मूल्यों के प्रकार-भेद भी कई हैं। ज्ञान-शास्त्र के आधार पर, कुछ दार्शनिक आन्तरिक मूल्यों को मानसिक मानते हैं। उनका कथन है कि आन्तरिक मूल्य का अस्तित्व मूल्यज्ञाता के ऊपर अवलम्बित है। अध्यात्मवादी तो उन्हें मानसिक बतलाते ही हैं, कुछ भौतिकवादी भी ऐसे हैं, जो इन मूल्यों

को मानसिक मानते है। उनका कथन है कि मूल्य एक प्रकार का अनुभव है; वह कोई वस्तु अथवा पदार्थ नहीं है। इच्छा ही मूल्यों का आधार है; जब तक इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न अथवा उसकी चेष्टा नहीं होती है, तब तक कोई मूल्य भी नहीं होता है। यदि इच्छाएँ न होती, तो मूल्य-अमूल्य अथवा शुभ-अशुभ का अस्तित्व भी न होता। इसी प्रकार, सुखवादी (Hedonists) भी यही मानते हैं कि "शुभ" यथार्थ मे सुख की प्रतीति का नाम है; और "अशुभ" दुख की प्रतीति का नाम है। अत: शुभ, अशुभ आदि के आन्तरिक मूल्य प्रतीत करने वाले विषय (Subject) पर निर्भर है। यदि हम न हों, तो मूल्य भी न होंगे।

बाह्य मूल्य

परन्तु यथार्थवादी दार्शनिक मूल्यों को मानसिक नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि वस्तु अच्छी लगेगी जब वह मूल्यवान होगी; अत: मूल्य ज्ञान अथवा दृष्टा (Subject) में नहीं होते हैं; वस्तु (Object) मे होते हैं। कुछ अध्यात्मिकवादियो का भी यही मत है। उदाहरणार्थ, **अफलातून** (Plato) के अनुसार, "शुभ" एक सामान्य तथा अन्तिम तत्त्व अथवा सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पूर्व से स्थित है और जिससे विश्व की सब शुभ वस्तुएँ निकली हैं। यह शुभ अन्ततम एक महान तत्त्व है और संसार के सभी शुभ इसके प्रतिबिम्ब है। इस शुभ का अस्तित्त्व मनुष्यों के अनुभव पर निर्भर नहीं है; वरन् मनुष्यों को जो शुभ का अनुभव होता है वह इसी अन्ततम शुभ के प्रकार के कारण होता है। कुछ मध्यमार्गीय यथार्थवाद कहते हैं कि शुभ अथवा मूल्य होता तो वस्तु अथवा पदार्थ में है, परन्तु उसमें ऐसी योग्यता होती है जिसके कारण अनुभवकर्त्ता के मन में यह धारणा हो जाती है कि अमुक वस्तु मूल्यवान है अथवा अमूल्यवान है।

मध्यम मार्ग

अन्य मध्यमार्गीय दार्शनिक ऐसा मानने लगे हैं कि मूल्यों में दोनों प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं, अर्थात् वह अनुभवकर्त्ता के अनुभव पर अवलम्बित होने के कारण मानसिक भी कहे जा सकते हैं; और जिस वस्तु से ऐसा अनुभव प्राप्त होता है, उस वस्तु में भी निहित माने जा सकते हैं। इस प्रकार मूल्य के लिए यथार्थ वस्तु भी होनी चाहिए और उसमें मनोरंजन लेने वाला मनस् भी। सारांश यह है कि दोनों मत, अर्थात् (1) "वस्तुएँ इसलिए अच्छी हैं कि हम उन्हें चाहते हैं" (Objects are good, because we desire them); और (2) "हम वस्तुओं को इस कारण चाहते हैं कि वे स्वत: अच्छी हैं" ("We desire objects, because they are good"), यद्यपि किसी प्रसंग में पहला, और किसी प्रसंग में दूसरा सत्य प्रतीत होता है। इन मूल्यों में पारस्परिक संघर्ष सदा चलता रहता है। इसी संघर्ष के कारण "अशुभ" (Evil) की प्रतीति होती है।

एक अन्य ढंग से भी मूल्यों में प्रकार-भेद माना जा सकता है। तत्त्व शास्त्र की दृष्टि से, दार्शनिकों में कुछ अध्यात्मवादी, कुछ जड़वादी, कुछ निष्पक्ष तत्त्व मानने वाले और कुछ किसी न किसी प्रकार के मध्यमार्गीय होते हैं। इनके दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार, मूल्यों के रूप के सम्बन्ध में भी मतभेद हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादी (Spiritualists) ऐसा मानते हैं कि सब मूल्य आध्यात्मिक हैं, और इस कारण सब आन्तरिक मूल्य (Instrinsic Values) शुभ (Good) हैं। 'अशुभ' (Evil) केवल शुभ के अभाव का नाम है। परन्तु जड़वादी ऐसा नहीं मानते हैं। वे मूल्य को अन्ततम सत्ता नहीं कहते हैं; और न ही वे मूल्यों का अन्तिम अस्तित्व मानते हैं। उनके अनुसार, जगत् मूल्यरहित अथवा मूल्य-शून्य है; और 'पुद्गल' (Matter) निष्पक्ष अथवा मूल्य-शून्य है। कुछ वेदान्ती भी जगत् को मूल्य-शून्य मानते हैं। वे कहते हैं कि शुभ और अशुभ की स्थिति माया में है, ब्रह्म में नहीं है; अत: शुभ और अशुभ पारमार्थिक दृष्टि से भ्रम-मात्र (Illusion) है। कुछ निष्पक्ष तत्त्व मानने वाले एकवादी (Neutral Monists) भी ऐसा ही कहते हैं। परन्तु यथार्थ में ये दार्शनिक एक ऐसे मूल्य अथवा तत्त्व को अन्ततम मानते हैं, जो शुभ-अशुभ के परे हो और इस कारण शुभ-अशुभ से भी बढ़कर हो। ➤

प्रश्न 3. मूल्यों के बोध से आप क्या समझते हैं?

उत्तर-

मूल्यों का बोध

अब प्रश्न यह उठता है "क्या मनुष्यों को मूल्यों का बोध अथवा अनुभूति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार हमें संसार के तथ्यों को घटनाओं का बोध अथवा प्रतीति होती है?" इस विषय पर कई प्रकार के मत-मतान्तर हैं। परन्तु, अन्त में, यही निर्णय उचित जान पड़ता है कि मूल्य "तथ्यों" (Facts) से भिन्न है। परन्तु मूल्यों और तथ्यों का एक-दूसरे से सम्बन्ध है, और दोनों के बीच में क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है; और इस प्रकार मूल्य यदि तथ्यों से पूर्णतया पृथक् कर दिए जाए और तथ्य मूल्यों से, तो वे मनुष्य के लिए बुद्धिगम्य न रह जायेंगे। इसी प्रकार, यह प्रश्न भी उठता है कि "क्या आन्तरिक मूल्यों की एक-दूसरे से तुलना हो सकती है?"

इसका उत्तर कुछ दार्शनिक यह देते है कि प्रत्येक आन्तरिक मूल्य विलक्षण व अद्वितीय होता है; अत: एक मूल्य की दूसरे से तुलना नहीं हो सकती है। परन्तु साधारण पुरुषो और दार्शनिको के भी व्यवहार मे हम यह पाते हैं कि वे मूल्यो मे है जिसके कारण तुलना की सकती है। फिर कुछ लोग यह पूछते है कि "इस प्रकार की तुलना का आधार क्या है?" उत्तर मे यह मानना पड़ेगा कि इन तुलनाओ के आधार, दार्शनिको की भिन्न-भिन्न परिकल्पनाओ के अनुसार, भिन्न-भिन्न हों; और कुछ भिन्नता मूल्यो अथवा 'शुभों' के प्रकार भेद से भी हो जाएगी। उदाहरणार्थ, सुखवादी भिन्न-भिन्न सुखो की तुलना उनकी तीव्रता, दीर्घता आदि के अनुसार करते है; और अनेक भारतीय सतो को यह अनुभूति होती है कि ज्यो-ज्यो वे मोक्ष पद के निकट पहुँचते है, त्यो-त्यो उनके अनुभव का आन्तरिक मूल्य बढ़ता जाता है। मूल्य-शास्त्र मे एक प्रश्न और भी उठता है; "क्या मूल्यो के मापदण्ड बनाए जा सकते हैं? और क्यो ऐसे मापदण्ड मूल्यों में ही निहित है अथवा उन निर्णयो में जो हम मूल्यों के आधार पर करते हैं अथवा दोनों में?" उत्तर में यही मानना पड़ता है कि जहाँ तक ये मूल्य एक-दूसरे के समान हैं और उनमे कोई सामान्य अथवा व्यापक तत्त्व पाया जाता है, वहाँ तक मूल्यों में पामदण्ड हो सकते हैं; और मूल्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों में ऐसे मापदण्डों (Standards) पर विचार भी होता है। परन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर के दर्शन पर विचारको का ध्यान इतनी अधिक मात्रा में केन्द्रीभूत हो गया कि अन्य आन्तरिक मूल्यो की पारस्परिक तुलना तथा उनके मापदण्डों की खोज की ओर विचारकों का ध्यान कम गया है।

कुछ ऐसे दार्शनिक हैं जो जीवन को इस कारण मूल्यवान गिनते है कि उसमें शुभ अधिक है, अशुभ कम। ऐसे विचारको को "आशावादी" (Optimists) कहते हैं। अन्य दार्शनिकों में कुछ ऐसे हैं जिनके मतानुसार संसार में अशुभ (Evil) की मात्रा अधिक है, और 'शुभ' की कम हैं ऐसे दार्शनिकों को "निराशावादी" (Pessimists) कहते हैं। इन दोनों के बीच में कुछ मध्यमार्गीय विचारक हैं जिनका यह मत है कि संसार मे शुभ और अशुभ दोनों हैं, और यह नहीं कहा जा सकता है कि अन्त में प्रधानता किसकी होगी? फिर भी हमारा कर्त्तव्य है कि हर प्रकार से अपनी दशा सुधारने का यत्न करें। ऐसे मध्यमार्गीय दार्शनिकों को 'सुधारवादी' (Meliorists) कहते हैं।

बहुत-से दार्शनिक परम सुख अथवा परमानन्द को सबसे ऊँचा शुभ मानते हैं। परन्तु यह परम सुख क्या है अथवा इसके क्या लक्षण हैं, और यह कि प्रकार समाप्त होता है, इस पर अनेक मतभेद हैं। बहुतत्त्व अथवा अनेकत्ववादी (Pluralists) कहते हैं कि सुख के अनेक एवं असंख्य क्षणों से ही परम-सुख मिलंता है; अत: लौकिक सुखों की बहुतायत का नाम ही परमसुख है। इस मत के विपरीत, अद्वैतवादी दार्शनिकों का यह मत है कि परमानन्द नित्य, अनादि, अनन्त, शाश्वत, अद्वितीय है। यथार्थ में, ऐसे बहुत कम पुरुष देखे गए हैं जिन्होंने क्षणिक एवं सांसारिक सुखों के द्वारा परम-सुख को प्राप्त किया हो। इसके विपरीत ऐसे पुरुष देखे गए हैं, जो सांसारिक दुखों की न्यूनता में भी आनन्द से निमग्न रहे हैं। फिर भी विरोधों का समन्वय इसी बात के मानने में होता है कि परम सुख दोनों बातों पर अवलम्बित है अर्थात् (1) "जो हम चाहते हैं वह हमें मिल जाए", और (2) "जो हमें मिलता है उसी की इच्छा करें"। इन्हीं दो बातों का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार, मानव-जीवन में समावेश होना चाहिए। हमें जो कुछ मिलता है, उसका अधिक से अधिक मूल्यांकन करना चाहिए, और साथ ही साथ, उन्नति अथवा नए शुभों की प्राप्ति के लिए भी अधिक से अधिक प्रयास करना चाहिए। परम सुख वैयक्तिक और निजी भी है, और सार्वजनिक भी; न तो हमें अपने निजी सुख तक ही सीमित होना चाहिए और न ही सार्वजनिक सुख के लिए इतनी मात्रा में चिन्ताशील होना चाहिए कि हमारे निजी सुख की मात्रा शून्य के तुल्य हो जाए। आदर्श तो यह होना चाहिए कि जगत् हमारे द्वारा सुखी हो और हम जगत् के द्वारा, किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब हमारे सुख के कई धरातल (Levels)—शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि हों; अर्थात् जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों या पक्षों अथवा क्षेत्रों में हमारी रुचि हो; तथा हम परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करते हुए जीवन से सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता रखते हों। इसी प्रकार की एक पद्धति लोकमान्य तिलक के "ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान कर्मयोग" में प्रदर्शित की गई है।

प्रश्न 4. शैक्षिक मूल्य के विभिन्न प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर-

शैक्षिक मूल्यों के विभिन्न प्रकार

1. आत्मनिष्ठ शैक्षिक मूल्य (Subjective Educational Values)—आत्मनिष्ठ शैक्षिक मूल्य का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी समझ और संकल्पना पर आधारित होता है। पाठ्-वस्तु तथा किसी अध्यापन-विधि का उपयोग अध्यापक और विद्यार्थी के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। इस दृष्टिकोण के सहारे ही अध्यापक तथा विद्यार्थी अपने-अपने शैक्षिक मूल्य की कल्पना करते हैं, जिसमें विद्यार्थी या अध्यापक कुछ अच्छाई देखते हैं उसे वे मूल्यवान मान लेते हैं। इस अच्छाई के अभाव में वे उसे उपेक्षित कर देते हैं।

2. वस्तुनिष्ठ शैक्षिक मूल्य (Objective Educational Values)—उपर्युक्त धारणा के विपरीत कुछ लोगों का मानना है कि शैक्षिक मूल्य वस्तु के बाहरी गुणों पर निर्भर करते हैं, किसी वस्तु या विचार का शैक्षिक मूल्य सम्बन्धित वातावरण के अनुसार होता है। यदि वातावरण अनुकूल न हुआ तो सम्भव है कि किसी वस्तु अथवा विचार को कोई प्रभाव अध्यापक या विद्यार्थी पर न पड़े। तब उन्हें कोई भी शैक्षिक मूल्य प्राप्त न होगा।

उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत कुछ अन्य लोगों की धारणा है कि "आत्मनिष्ठ" प्रकार वातावरण की अवहेलना करता है और वस्तुनिष्ठ प्रकार अध्येता की रुचि तथा मनोभाव की उपेक्षा करता है। किसी भी शैक्षिक प्रक्रिया में वातावरण, रुचि और मनोभाव—ये तीनो इस प्रकार अपना-अपना महत्त्व रखते है कि एक की भी उपेक्षा सब कुछ मटियामेट कर देता है। वस्तु, इस तीसरी धारणा के अनुसार 'शैक्षिक मूल्य' आत्मनिष्ठता ओर वस्तुनिष्ठता दोनों प्रकार के गुणो पर निर्भर करता है।

3. तात्कालिक मूल्य (Immediate Values)—हमारी कुछ रुचियाँ, इच्छायें और आवश्यकतायें होती हैं जो मूल्य इन सबसे सम्बन्धित मूल्य प्राप्त होगा।

4. दूरस्थ मूल्य (Remote Values)—विद्यालय के विविध कार्यक्रम अध्यापकों और विद्यार्थी की अनेक इच्छायें हो सकती हैं जिन सबकी पूर्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। अत: कई इच्छाओं में से हमें केवल कुछ इच्छाओं को चुनना पड़ता है। इच्छाओं से इस चयन में हमें बुद्धि और भावना का उपयोग करना चाहिए। जो इच्छायें हमारी बुद्धि और भावना से सम्बन्धित होती हैं उनसे हमें तत्सम्बन्धित मूल्य प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के मूल्य निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं—

(i) साधन मूल्य (Instrumental Values)—जिन मूल्यों के आधार पर हमें कुछ अन्य उपयोगी मूल्य प्राप्त होते हैं उन्हें साधन मूल्य कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति भारतीय संगीत-शास्त्र के अनुसार गायक बनना चाहता है। इसके लिए उसे एक तानपुरा तथा संगीत की कुछ सम्बन्धित पुस्तकों की आवश्यकता होगी। तानपुरा तथा इस प्रकार की पुस्तकें साधन के रूप में उसके लिए बहुत ही मूल्यवान हैं। इन साधनों के सहारे उसके उद्देश्य की पूर्ति सम्भव है। अत: ये सामग्रियाँ साधन-मूल्य कही जा सकती हैं।

(ii) साध्य मूल्य (Intrinsic Values)—यह मूल्य मुख्यत: अपने पर निर्भर होता है। उदाहरणार्थ— हम मेज और कुर्सी से सहारे पढ़-लिख सकते हैं। ये वस्तुयें हमारे लिए अपने में ही मूल्यवान हैं। इनका मूल्य स्थायी और सार्वभौमिक (Universal) होता है।

उपर्युक्त दो प्रकार के दूरस्थ (Remote) मूल्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी वस्तुयें हो सकती हैं जो हमें साधन और साध्य दोनों प्रकार के मूल्य दे सकती हैं।

5. सौन्दर्यात्मक मूल्य (Aesthetic Values)—कुछ ऐसे मूल्य भी हो सकते हैं जिनसे हमें किसी रसानुभूति का अनुभव होता है। इस प्रकार के मूल्यों को सौन्दर्यात्मक मूल्य कहा जाता है। यदि हम किसी विषय के अध्ययन में किसी विशिष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं तो उससे हमें सौन्दर्यात्मक मूल्य की अनुभूति होती है।

सौन्दर्यात्मक मूल्य के अनुभव के विषय विविध व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। जैसे, कोई संगीत में इस मूल्य का अनुभव कर सकता है तो कोई गणित, भौतिकशास्त्र अथवा चित्रकला के क्षेत्र में यह अनुभव प्राप्त कर सकता है। ➤

प्रश्न 5. शैक्षिक मूल्यों के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य एवं आवश्यकता बताइये।

उत्तर– शैक्षिक मूल्यों के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य एवं आवश्यकता

शिक्षा के उद्देश्य शैक्षिक मूल्यों पर ही आधारित किए जाते हैं। ऐसा करने के क्रम में निम्नलिखित आधारों (Bases) की आवश्यकता होती है।

1. सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विश्लेषण।
2. सामान्य आदर्श।
3. विभिन्न दार्शनिक विचार।

उपर्युक्त चार आधारों में दार्शनिक आधार को सबसे अधिक उपयुक्त माना गया है। दार्शनिक आधार के सहारे व्यक्ति में वांछित सुधार लाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सामान्य आदर्शों का कुछ विशेष महत्त्व नहीं होता, यद्यपि उनका अनुसरण करना भी एक

सामाजिक आवश्यकता होती है। सुखद जीवनयावन सम्बन्धी वैज्ञानिक आधार हमें लौकिक दृष्टि से पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं, परन्तु उनसे हमें जीवन को उदात्त भावनाओ की चेतना हो जाए यह आवश्यक नही है। अतएव दार्शनिक विचारो का आधार ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

दार्शनिक विचारो मे विभन्नता के कारण उनके आधार पर निर्धारित शैक्षिक उद्देश्यो मे भी भेद पाया जा सकता है। प्रकृतिवाद, आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद (Pragmatism) के विचारों मे भेद होता है, अत: इनके अनुसार निर्धारित शिक्षा के उद्देश्यो मे विविधता होती है। शैक्षिक मूल्यो के आधार पर ही शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। शिक्षा के उद्देश्यो का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

1. सामान्य उद्देश्य (General Aims)—सामान्य उद्देश्य अन्तर्निहित मूल्यों पर आधारित हैं; जैसे— यदि हमारा उद्देश्य बालक का वैयक्तिक विकास करना है तो सर्वप्रथम हमें बालक ही विविध क्षमताओ और सूचियों की जानकारी करनी होगी। इसके बाद इस जानकारी के आधार पर बालक के विकास हेतु ऐसा शिक्षा-कार्यक्रम बनायेंगे जिससे उसकी क्षमताओं का अच्छा विकास हो सके और साथ ही उसकी रुचियाँ सम्बन्धित क्षेत्रों की ओर अग्रसर हो सकें।

2. विशिष्ट उद्देश्य (Specific Aims)—शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्य उसके सामान्य उद्देश्य के ही पूरक होते हैं। सामान्य उद्देश्य के ही साधन में ही इन विशिष्ट उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी बालक की शिक्षा का सामान्य उद्देश्य उसे एक बहुत ही अच्छा 'विद्युत अभियन्ता' (Electrical Engineer) बनाना है तो हम उसके शिक्षा कार्यक्रम में उन विशिष्ट उद्देश्यों का निर्धारण करेंगे जिनकी पूर्ति होने से वह बालक एक उत्तम कोटि का विद्युत अभियन्ता हो सके। इसके लिए हमें विद्युत-विज्ञान का विश्लेषण करना होगा और इस विश्लेषण करना होगा और इस विश्लेषण के अनुसार बालक को विविध बातों में शिक्षित औश्र प्रशिक्षित करना होगा।

3. पूर्ण जीवन की तैयारी—हरबर्ट स्पेन्सर का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को पूर्ण जीवन (Complete Living) के लिए तैयार करना है। इस पूर्ण जीवन के सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वह कई अन्य ऐसे विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति की चर्चा करता है जिनकी पूर्ति के बाद ही 'पूर्ण जीवन' के 'सामान्य उद्देश्य' की प्राप्ति सम्भव है। स्पेन्सर के अनुसार, व्यक्ति को अपने 'पूर्ण' की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति करना आवश्यक है—

1. स्वास्थ्य (Health)।
2. पढ़ने-लिखने तथा अन्य सामान्य बातों की कुशलता (Skill in reading, writing and other general things)।
3. गृह-कार्य का कुशल सदस्य (Worthy home membership)।
4. उद्योग (Industry)।
5. नागरिक के कर्त्तव्य (Duties of a citizen)।
6. अवकाश का सदुपयोग (Intelligent use of leisure)।
7. नैतिक-चरित्र (Moral character)।

प्रश्न 6. शिक्षा तथा मानव-मूल्य की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर–

शिक्षा और मानव-मूल्य
(Education and Human Values)

हमारे सामने एक प्रश्न उठता है कि युग मूल्य **'आखिर बनें कैसे?'** अर्थात् एक काल विशेष में एक समाज के अन्तर्गत वे कौन से कारक हैं जो मूल्यों को बनाने में सहायक हैं? इस प्रकार का उत्तर देने के लिए हमें व्यक्ति समाज तथा शिक्षा तीनों की सम्पूर्ण गतिविधियों का अवलोकन करना होगा। छात्र वह बीज है जो अपने अन्दर समस्त मूल्यों के विकास को समेटे हुए है। शिक्षा वह परिवेश है जो इस बीज को खाद-पानी देकर उसे विकसित होने का अवसर प्रदान करती है। इन दोनों के योगदान से ही मूल्यों का उद्दीप्ता होता है। शिक्षा समाज की वह सीढ़ी है जिस पर पाँव रखकर व्यक्ति अपने संस्कारों को सँवारता है और शिक्षा को दिशा प्रदान करता है। महान् व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य प्राय: समाज के सभी व्यक्तियों द्वारा समान रूप से स्वीकार किया जाता है। शिक्षा, समाज तथा व्यक्ति तीनों मिलकर यह निर्धारित करते हैं कि किन बातों पर ध्यान देने से अमुक काल में व्यक्ति तथा समाज का कल्याण सम्भव है।

मूल्य निरपेक्ष शिक्षा—भारत में धर्मनिरपेक्षता का बहाना बनाकर मूल्य निरपेक्ष शिक्षा का नारा उछाला गया। अस्तु, देश में विघटनकारी तत्व आज पहले से कहीं अधिक है, युवा पीढ़ी विध्वंसात्मक कार्यों में जुटी दिखाई देती है। समाज के मूल्य क्षणभंगुर हो गए हैं। शिक्षा प्रणाली मनुष्य में राग, द्वेष, हर्ष शोक उत्पन्न कर रही है। ये ही मूल्यों का ह्रास होने का प्रमुख कारण है। भावना नहीं अपितु पदार्थ शिक्षार्थी में चिन्तन का विषय बन गया है। शिक्षा न तो मनुष्य में आत्मनियन्त्रण, न ही स्वाध्याय का विकास कर रही है। विद्यार्थी अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो रहा है। शिक्षा यर्थाथता तथा आदर्शों में भेद कर रही है। जब बालक यथार्थता को आदर्शों से भिन्न देखता है तो वह असहाय हो जाता है। वर्तमान शिक्षा पद्धति और मूल्यों में कोई समन्वय नहीं है। भाषण, नोट्स तथा बने- बनाये उत्तरों को दोहराने का कौशल ही शिक्षार्थी की परीक्षा का मापदण्ड है। शिक्षार्थी न तो अपने अस्तित्व को पहचान पाता है, न ही पुस्तकीय ज्ञान उसकी सहायता करता है। ये गिरते हुए मूल्य हमारी शिक्षा के लिए एक चुनौती है। शिक्षा में सुधार के द्वारा ही इन्हें सुधारा जा सकता है।

मूल्यपरक शिक्षा—शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत बालक सत्य के आधार पर अहिंसा द्वारा प्रेमपूर्वक जीवनयापन करना सीखे। शिक्षा से ऐसा मनुष्य बनाना है जो स्वयं स्वेच्छा से शाश्वत मूल्यों के पालन का प्रयास करें, जिससे व्यक्ति, समाज सभी का कल्याण सम्भव हो। इसके लिए शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा जाग्रत करना आवश्यक है, जिसके लिए आध्यात्म की आवश्यकता है। वर्तमान समय मे विज्ञान ने आध्यात्म की जड़ें उखाड़ फेंकी हैं। शिक्षा में आध्यात्म को भी स्थान दिया जाना चाहिए। तभी मूल्यों का धाराशायी वृक्ष पुन: खड़ा हो सकता है अन्यथा आज की शिक्षा के स्तर को देखते हुए भारतीय संस्कृति के मूल्यों का सरंक्षण दुष्कर प्रतीत होता है।

भारतीय संविधान नैतिक मूल्यों की अमूल्य निधि है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में जो मूल्य बताए गए हैं उन्हें शिक्षा द्वारा छात्रों के जीवन में उतारा जा सकता है। वे मूल्य हैं—प्रजातन्त्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, न्याय, सहिष्णुता, व्यक्ति की गरिमा विचार, अभिव्यक्ति आदि। ईमानदारी, उपकार, नम्रता, अहंकार, निस्वार्थता, समभाव, मन वचन कर्म की एकता के गुण। इन्हीं मूल्यों को छात्रों को अपने जीवन में उतारना है। बालक को मूल्यपरक शिक्षा देनी चाहिए। वर्तमान समय में मूल्यों को बताने के लिए मात्र उपदेश ही पर्याप्त साधन माना जाता है। अनुभूति चिन्तन क्रियान्विति नहीं है।

मूल्यपरक शिक्षा में ये सभी बातें अपरिहार्य हैं। शिक्षा ऐसी दी जाती चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि वह स्वयं क्या है? उसके कर्त्तव्य क्या हैं? उसे जीवन में किसे प्राथमिकता देनी है? निष्ठाओं का टकराव क्यों होता है? तभी वह अच्छे मूल्यों का विकास कर सकता है। इसका सम्बन्ध पाठ्यक्रम, पाठ्य-वस्तु एवं परीक्षा से भी जुड़ा हुआ। ➤

प्रश्न 7 –शिक्षण-विधियाँ (पद्धतियाँ) किन्हें कहते हैं ? अच्छी शिक्षण विधि की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

अथवा

शिक्षण-विधि का अर्थ बताइये तथा स्पष्ट कीजिये कि अध्यापक के लिये इनका क्या महत्व है ?

उत्तर–

शिक्षण विधि/पद्धति का अर्थ

"शिक्षण विधि से तात्पर्य शिक्षक द्वारा निर्देशित ऐसी क्रियाओं से है जिनके परिणामस्वरूप छात्र कुछ सीखते हैं।" इस प्रकार शिक्षण विधि अनेक क्रियाओं का एक पुँज है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप छात्र कुछ ज्ञानार्जन करता है। शिक्षण विधि के प्रक्रिया होने के कारण इसमें कई सोपान (Steps) होते हैं। कई सोपान ऐसे होते हैं जो कई शिक्षण विधियों में पाये जाते हैं। इन सोपानों को ठीक से व्यवस्थित करना शिक्षक का कार्य है।

शिक्षण-विधि का महत्त्व

शिक्षण विधियों के प्रयोग के सम्बन्ध में इस समय दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक विचारधारा के अनुसार, यदि शिक्षण में आत्मविश्वास है, वह विषय-वस्तु को भी ठीक प्रकार जानता है तो उसे किसी भी विशेष शिक्षण-पद्धति का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस विचारधारा के अनुसार शिक्षक को शिक्षण विधि का ज्ञान आवश्यक है तथा उसे उसके द्वारा अपनाई गई शिक्षण विधि का अक्षरश: पालन करना चाहिये। इस प्रकार प्रथम विचारधारा विषय-वस्तु के ठोस ज्ञान पर बल देती है। यदि हम प्रयोगात्मक रूप से देखें तो पाते हैं कि दोनों ही विचारधारायें गलत हैं। विषय-वस्तु मात्र का ज्ञान रखने से ही कोई सफल शिक्षक नहीं बन जाता है। ऐसे अनेक शिक्षक पाये जाते हैं जिनके पास विषय-वस्तु का ठोस ज्ञान होता है किन्तु वे कक्षा के छात्रों को सन्तोष प्रदान नहीं कर पाते हैं। विषय-वस्तु के ज्ञान के अलावा उन्हें शिक्षण-कला से अवगत होना आवश्यक है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा

केवल शिक्षण विधि के महत्त्व को स्वीकार करती है। यह विषय-वस्तु को उतना आवश्यक नहीं समझती है। यह विचारधारा भी गलत है क्योंकि केवल शिक्षण विधि का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। शिक्षक को विषय का ज्ञान होना भी आवश्यक है। एक सैनिक को जिस प्रकार विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार उसे उन अस्त्र-शस्त्रों को प्रयोग करने की शिक्षण विधियों से अवगत होना भी आवश्यक है, तभी वह युद्ध-क्षेत्र में कुछ कर सकता है। इसी प्रकार शिक्षण को विषय-वस्तु व पद्धति दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। उसे विषय-वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ छात्रों की समस्याओं को जानना आवश्यक है। उसे अध्ययन प्रक्रिया को सरल बनाना है।

वेस्ले तथा रॉस्की भी इस बात को मानते हैं कि शिक्षक को जहाँ विषय-वस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है, वहीं उसे शिक्षण विधि का ज्ञान भी होना चाहिये। शिक्षण विधि वस्तु के माध्यम से ही कार्य करती है और वस्तु तभी कार्य कर सकती है जब उसे किसी शिक्षण विधि से प्रयोग किया जाये।

चाहे जितना उत्तम पाठ्यक्रम बनाया जाये, चाहे जितने वैज्ञानिक पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाये, जब तक अच्छी शिक्षण विधि का प्रयोग अच्छे शिक्षक द्वारा नहीं किया जाता है, सब व्यर्थ है। इन्हीं विचारों को माध्यमिक शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में व्यक्त किया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि शिक्षक के लिए जहाँ विषय-वस्तु का ज्ञान आवश्यक है, वहीं इसे आधुनिक शिक्षक पद्धतियों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इन आधुनिक पद्धतियों में से उसे उचित तथा अच्छी शिक्षण विधि का चयन करना चाहिये। नीचे हम अच्छी शिक्षण विधि की विशेषताओं की विवेचना करेंगे।

अच्छी शिक्षण विधि की विशेषतायें

1. वही शिक्षण विधि उत्तम है जो छात्रों में सीखने के लिए प्रेरणा जाग्रत करती है।
2. उत्तम शिक्षण विधि शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करती है।
3. उत्तम शिक्षण विधि में स्पष्टता व निश्चितता होती है।
4. अच्छी शिक्षण विधि कलात्मक होती है। इसके कारण शिक्षक उपयुक्त एवं अनुपयुक्त का ज्ञान प्राप्त कर विषय-वस्तु प्रस्तुत करते हैं। ➤

प्रश्न 8—कक्षा शिक्षण में किन-किन विधियों का प्रयोग किया जाता है ? किसी एक शिक्षण विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

अथवा

शिक्षण की पाठ्य-पुस्तक विधि की संक्षिप्त विवेचना कीजिए तथा इसके गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–

शिक्षण की विभिन्न विधियाँ

शिक्षण की विभिन्न विधियाँ निम्नलिखित हैं—

1. पाठ्य-पुस्तक विधि
2. प्रयोगशाला विधि
3. कहानी विधि अथवा कथा-कथानक विधि
4. समस्या समाधान विधि
5. योजना विधि अथवा परियोजना विधि
6. वाद-विवाद विधि अथवा वार्तालाप विधि

शिक्षण की पाठ्य-पुस्तक विधि

'पाठ्य-पुस्तक विधि' पाठ्य-पुस्तक पर आधारित होती है। अन्य विषयों की भाँति अर्थशास्त्र की भी प्रत्येक कक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तक निर्धारित की जाती है। शिक्षक को अपना शिक्षण कार्य इस पर आधारित करना होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि पाठ्य-पुस्तक विधि सर्व प्रचलित है।

पाठ्य-पुस्तक विधि की उपयोगिता अथवा गुण

(1) इसमें पाठ्य-सामग्री सुनियोजित एवं सुगठित होती है (It Presents Content in Well- planned and Well-organized Manner)—पाठ्य-पुस्तक विधि पाठ्य सामग्री को सुनियोजित एवं सुगठित रूप में प्रस्तुत करती है, जिससे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों को सहायता मिलती है। पाठ्य-पुस्तक में पाठ्य सामग्री को शीर्षकों तथा

उपशीर्षकों में बाँटकर उसे सरल और सुबोध बना दिया जाता है। यों कहा जा सकता है कि पाठ्य-पुस्तक विधि पाठ्य-सामग्री को सरल और सुबोध बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

(2) यह विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुकूल होती है (It is According to the Needs of Students)—शिक्षाशास्त्री सदैव इस बात पर बल देते आ रहे है कि शिक्षण विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिये। पाठ्य-पुस्तक विधि का प्रयोग इस बात की पूर्ति में सहायक सिद्ध होता है।

(3) यह अध्यापक का शिक्षण कार्य में मार्गदर्शन करती है (It Guides the Teacher in this Teaching Work)—अध्यापक को क्या पढ़ाना है और निश्चित काल मे कितना पाठ्य-क्रम समाप्त करना है-इसका निश्चित एवं स्पष्ट मार्गदर्शन पाठ्य-पुस्तक से प्राप्त होता है। पाठ्य-पुस्तक में दी गई पाठ्य सामग्री को आधार मानकर अध्यापक के लिए शिक्षण कार्य गठित करना आसान हो जाता है।

(4) यह अन्य विधियों का आधार है (It is the Base of Other Methods)—सामाजिक अध्ययन के शिक्षण मे अपनाई जाने वाले सभी विधियों में किसी न किसी पुस्तक की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है। कई विधियों में तो एक से अधिक पुस्तकों की सहायता लेनी होती है। परन्तु यह सहायता तभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है, जब विद्यार्थियों को समझदारी से पुस्तकें पढ़ने का अभ्यास हो और यह अभ्यास 'पाठ्य-पुस्तक विधि' द्वारा प्रदान किया जाता है।

(5) यह पाठ्य सामग्री को सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करती है—कई बार अध्यापक पढ़ाते समय अपनी विशिष्ट रुचियों के कारण किसी विषय की उपेक्षा कर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक की रुचि सामाजिक विज्ञान में अधिक है तो अनजाने में उससे दूसरे विषयों की उपेक्षा हो जायेगी। इस प्रकार की वांछित उपेक्षाओं से बचने के लिए पाठ्य सामग्री को सन्तुलित रूप से संकलित करना जरूरी है और पाठ्य-पुस्तक, इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। पाठ्य-पुस्तक विधि में अध्यापक को अपना शिक्षण पाठ्य-पुस्तक पर आधारित करना होता है।

पाठ्य-पुस्तक विधि की सीमाएँ अथवा दोष

पाठ्य-पुस्तक विधि में उपर्युक्त उपयोगिताएँ होते हुए भी यह दोष-हीन नहीं है। मुख्यत: इसमें निम्नलिखित दोष हैं—

(1) इससे रटन्त प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है (It Encourages Roto Tendency)—प्राय: देखा गया है कि अधिकांश विद्यार्थी पाठ्य-पुस्तक को समझकर पढ़ने का प्रयास नहीं करते बल्कि उसे रट लेते हैं। रटने की इस प्रवृत्ति से उन्हें परीक्षा में भले ही कुछ सीमा तक सफलता मिल जाये, परन्तु यह उनके बौद्धिक विकास के लिए घातक सिद्ध होती है।

(2) यह व्यापक दृष्टिकोण के विकास में सहायक नहीं है (It is not helpful in the development of wide out look)—सामाजिक अध्ययन शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य विद्यार्थी के दृष्टिकोण को व्यापकता प्रदान करना है। पाठ्य-पुस्तक विधि इस उद्देश्य की प्राप्ति में पर्याप्त रूप से सहायक सिद्ध नहीं होती। अधिकांश विद्यार्थी केवल उन्हीं सूचनाओं तथा बातों को याद कर लेते हैं, जो पाठ्य-पुस्तक में दी जाती हैं। मूक-मण्डल के समान वह पाठ्य-पुस्तक की छोटी-सी परिधि को ही समूचा सत्य मान बैठते हैं। इस प्रकार का सीमित दृष्टिकोण कई बार घातक भी सिद्ध होता है।

(3) इसमें वांछित विस्तार का अभाव होता है (It lacks detailed description)— पाठ्य-पुस्तक में संकलित पाठ्य-सामग्री को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। संक्षिप्तीकरण की यह प्रवृत्ति विद्यार्थियों की जिज्ञासा-तुष्टि में बाधक हो सकती है।

(4) इसमें अध्यापक के लिए स्वतन्त्रता का अभाव होता है (It Lacks inDependence for Teacher)—पाठ्य-पुस्तक की सीमा में बँधे रहने के कारण अध्यापक को अपने शिक्षण-कार्य में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। वह न तो स्वतन्त्रतापूर्वक अपना शिक्षण-कार्य आयोजित कर सकता है और न ही विद्यार्थियों की जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए पाठ्य सामग्री में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन कर सकता है। परिणामस्वरूप उसका शिक्षण नीरस एवं प्रभावहीन बनकर रह जाता है।

(5) इसमें विद्यार्थियों की सक्रियता का अभाव होता है (It Lacks Active Participation of Students)—आज प्राय: सभी शिक्षाविद तथा शिक्षा मनोवैज्ञानिक इस बात पर बल देते हैं कि शिक्षण विद्यार्थी-केन्द्रित होना चाहिए, अर्थात् शिक्षण प्रक्रिया में विद्यार्थियों को ज्यादा सक्रिय होना चाहिए, परन्तु पाठ्य-पुस्तक विधि विद्यार्थियों को सक्रिय नहीं बनाती। ➤

प्रश्न 9—शिक्षण की प्रयोगशाला विधि का संक्षेप में वर्णन कीजिये तथा इसके गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिये।

उत्तर–

प्रयोगशाला विधि

इस विधि का प्रमुख उद्देश्य बालको का व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनो प्रकार का विकास करना है।

कुछ समय पूर्व प्रयोगशाला विज्ञान शिक्षण के लिये ही उपयुक्त समझी जाती थी, परन्तु शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने अब इसको प्रत्येक विषय की शिक्षा के लिये आवश्यक बना दिया है। वर्तमान युग मे सामाजिक विषयों की शिक्षा के लिये भी प्रयोगशाला का होना आवश्यक माना जाता है। इस विधि के जन्मदाता विशेष रूप से मिस हेलन पार्क हर्ट (Miss Helen Park Harst) हैं जिन्होंने शिक्षण प्रक्रिया को बच्चो की दृष्टि से निर्धारित किया। इस विधि के द्वारा तीव्र बुद्धि, मन्द बुद्धि तथा सामान्य बुद्धि के छात्रों को अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार विकास करने का अवसर मिलता है। प्रयोगशाला विधि के समथकों का मत है कि यदि प्रत्येक विषय की प्रयोगशाला पृथक् रूप से स्थापित की जाती है तो उससे छात्रों में उस विषय के लिये एक ऐसा आनन्दमय वातावरण स्थापित हो जायेगा जिसमें वे सुगमतापूर्वक क्रिया द्वारा सीख सकते हैं। अर्थशास्त्र शिक्षण के लिये भी एक प्रयोगशाला की आवश्यकता है। अर्थशास्त्र की प्रयोगशाला होने पर शिक्षक को अर्थशास्त्र शिक्षण की सहायक सामग्री को एक कमरे से दूसरे कमरे में नहीं ले जाना पड़ेगा तथा उस सामग्री के टूटने-फूटने का भय नहीं रहेगा। प्रयोगशाला के द्वारा अर्थशास्त्र का वातावरण स्थापित हो जायेगा जो इस विषय की शिक्षा के लिये अति आवश्यक है। अर्थशास्त्र की प्रयोगशाला में निम्नलिखित सामग्री होनी चाहिये—

(1) ऐसा अध्ययन कक्ष जिसमें एक समय में 30 या 40 स्वाध्ययन कर सकें। इसके अतिरिक्त कक्षा में प्रायोगिक कार्य करने के लिये मेजों तथा कुर्सियों की व्यवस्था होनी चाहिये।

(2) श्याम-पट्ट।

(3) सामाजिक अध्ययन की पाठ्य-पुस्तकों, सहायक पुस्तकों तथा पत्र पत्रिकाओं की व्यवस्था आलमारियों में होनी चाहिये। यह आलमारियाँ दीवारों में हों तो उत्तम होंगी क्योंकि लकड़ी की आलमारियाँ पर्याप्त मात्रा में स्थान घेरेंगी।

(4) सूचना-पट, चार्ट, माडेल, चित्र, मानचित्र आदि।

(5) शब्दकोश।

(6) चित्र-प्रसारक यन्त्र जिन पर स्लाइड्स तथा गति युक्त चित्रों का प्रयोग हो सकें।

(7) रेडियो तथा टेलीविजन।

प्रयोग—इस विधि के प्रयोग के लिये शिक्षक बालकों का कार्य-निर्धारण करता है और उसके उपरांत वह उससे सम्बन्धित सामग्री के उपलब्ध सूत्रों आदि के विषय में बता देता है। इन सूचनाओं के ग्रहण करने के उपरांत छात्र अपना कार्य व्यक्तिगत रूप से प्रयोगशाला में बैठकर करते हैं। इस प्रकार उन्हें अपनी वैयक्तिक विभिन्नताओं के अनुसार कार्य प्राप्त हो जाता है, जिससे उनकी वैयक्तिक विशेषताओं का विकास सम्भव हो जाता है। इस विधि में निर्धारित कार्य को पूर्ण करने के लिये समय निर्धारित कर दिया जाता है। जो छात्र अपने कार्य को निर्धारित अवधि से पूर्व पूर्ण कर लेता है, उसे दूसरा कार्य दे दिया जाता है।

प्रो० हिल ने इस विधि के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है, "प्रयोगशाला विधि में अधिकतर छात्र अपनी मेजों पर पढ़ने-लिखने का काम करते रहते हैं। कुछ छात्र परस्पर विचार-विमर्श करते हैं। कोई शब्दकोश देखता है तो कोई मानचित्र, कोई नक्शा बनाता है तो कोई ग्राफ। इस प्रकार समस्त छात्र किसी न किसी काम में व्यस्त रहते हैं। अध्यापक का कार्य छात्रों को प्रोत्साहित करना है। अध्यापक छात्रों को सुझाव देता है, उनकी त्रुटियों को सुधारता है और आवश्यकता पड़ने पर अध्यापक कठिन बात की व्याख्या सामूहिक रूप से भी करता है।"

गुण—(1) इस विधि द्वारा परम्परागत परीक्षा प्रणाली के दोषों का निवारण किया जा सकता है। प्रयोगशाला में प्रत्येक छात्र की उन्नति का विवरण-पत्र रहता है जिसमें शिक्षक उनकी उपलब्धियों को अंकित करता है। इसी विवरण पत्र के आधार पर छात्रों को एक कक्षा से दूसरी कक्षा के लिये प्रोन्नत किया जा सकता है।

(2) यह विधि छात्रों में स्वाध्ययन की आदत का निर्माण करती है।

(3) यह विधि छात्रों को स्वानुभव द्वारा ज्ञान अर्जित करने का अवसर प्रदान करती है।

(4) यह विधि सीखने के सिद्धान्त पर आधारित है। अत: इसमें छात्र अन्य पद्धतियों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहते हैं।

(5) यह विधि छात्र की वैयक्तिक विभिनताओं के अनुसार कार्य करने का अवसर प्रदान करती है।

(6) इस विधि द्वारा सामूहिक शिक्षण के दोषों को दूर किया जा सकता है।

दोष—(1) समुचित सावधानी न रखने पर इस विधि के यांत्रिक होने का भय बना रहता है।

(2) यह विधि बहुत व्ययपूर्ण है। इस पद्धति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि प्रयोगशाला में उपयुक्त उपकरण एवं सामग्री उपलब्ध हो। यह पद्धति भारत जैसे निर्धन देश के लिये उपयुक्त नहीं है क्योंकि यहाँ छात्रों के लिये सामान्य कक्ष भी उपलब्ध नहीं है।

(3) इस विधि में छात्रों का बहुत-सा समय छोटी-छोटी बातों को सीखने में व्यर्थ हो जाता है।

(4) इस विधि के माध्यम से अर्जित किया गया ज्ञान शृंखलाबद्ध तथा व्यवस्थित नहीं होता।

(5) भारतीय स्कूलों में इस विधि का अनुसरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ छात्रोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें, पत्र-पत्रिकायें आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। ➤

प्रश्न 10—शिक्षण की समस्या-समाधान विधि का विस्तृत विवरण दीजिये।

उत्तर–

समस्या-समाधान विधि

समस्या-समाधान विधि विद्यार्थी की मानसिक क्रिया पर आधारित है, क्योंकि इस विधि में समस्या का चयन करके विद्यार्थी स्वयं के विचारों एवं तर्क शक्ति के आधार पर मानसिक रूप से समस्या का हल ढूँढ कर नवीन ज्ञान प्राप्त करता है।

(1) वुडवर्थ (Woodworth) के अनुसार, "समस्या-समाधान उस समय प्रकट होता है जब उद्देश्य की प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़ती है। यदि लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग सीधा और आसान हो, तो समस्या आती ही नहीं।"

(2) गेट्स तथा अन्य (Gates and others) के अनुसार "समस्या-समाधान, शिक्षण का एक रूप है, जिसमें उचित स्तर की खोज की जाती है।"

(3) स्किनर (Skinner) के अनुसार, "समस्या-समाधान एक ऐसी रूपरेखा है, जिसमें सृजनात्मक चिंतन तथा तर्क दोनों होते हैं।"

(4) सी० वी० गुड (C. V. Good) के शब्दों में, "समस्या-समाधान विधि में विद्यार्थी चुनौतीपूर्ण स्थितियों के निर्माण द्वारा सीखने की ओर प्रेरित होता है। यह एक ऐसी विशिष्ट विधि है जिसमें लघु किन्तु सम्बन्धित समस्याओं के सामूहिक समाधान के माध्यम से एक बड़ी समस्या का समाधान किया जा सकता है।"

वास्तव में, समस्या उस परिस्थिति को कहते हैं, जिसके लिये मनुष्य के पास पहले से तैयार कोई हल नहीं होता। (A problem is a situation for which the individual has no ready made solutions.) ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को तुरन्त ही उस परिस्थिति का सामना करने के लिये साधन जुटाने पड़ते हैं, बहुत सी बातों के बारे में सोचना पड़ता है। कभी उसे वह समस्या ही नहीं लगती और यह सोचकर व्यक्ति कुछ भी नहीं करता। कई बार व्यक्ति को समस्या अच्छी तरह से समझ ही नहीं आती। अत: कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का तरीका या उन समस्याओं का हल ढूँढने का तरीका जो आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पहुँचाती है, समस्या-समाधान कहलाता है। समस्या के अनुसार ही समस्या-समाधान की विधि का चयन होता है।

समस्या-समाधान विधि में विद्यालय का पाठ्यक्रम इस प्रकार संगठित किया जाता है कि बालकों के सामने एक वास्तविक समस्या उत्पन्न हो सके। भौतिक विज्ञान के शिक्षण में कुछ ऐसी इकाइयाँ बनाई जा सकती हैं जो बच्चों के सामने समस्या के रूप में प्रस्तुत की जाएँ। समस्या कठिन और आसान, छोटी और बड़ी, विभिन्न प्रकार की हो सकती है। उदाहरणार्थ—किसी गैस को बनाने की विधि।

इस प्रकार समस्या विधि में मानसिक निष्कर्षों पर अधिक बल दिया जाता है। समस्या विधि में किसी समस्या या प्रश्न को एक विशेष स्थिति में वैज्ञानिक ढंग से हल किया जाता है, परन्तु इसके प्रयोग में इस बात पर बल दिया जाता है कि छात्र समस्या को अपनी समझ कर हल करने के लिये तैयार रहें। दूसरे शब्दों में, विद्यार्थियों को समस्या में अपनत्व अनुभव करना चाहिये। समस्या समाधान हेतु शिक्षार्थी द्वारा तैयार किये गये सभी प्रयत्न उद्देश्यपूर्ण होते हैं।

परियोजना-विधि और समस्या-समाधान विधि में अन्तर यह है कि परियोजना-विधि में समस्या का समाधान कार्य को व्यावहारिक रूप से समाप्त कर देने के पश्चात् ही हो सकता है, जबकि समस्या के समाधान में मानसिक हल ढूँढा जाता है। समस्या-समाधान विधि का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देना है न कि समाज की समस्याओं के समाधान ढूँढना।

समस्या-समाधान विधि के गुण

समस्या-समाधान विधि के गुण निम्नलिखित है—

(1) जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायक (Helpful in Solving the Problems of Life)—इस विधि मे बालक जीवन मे आने वाली समस्याओ को सुलझाने के लिये हमेशा तैयार रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में अनेक समस्याओ का सामना करना पड़ता है। विद्यालय मे समस्याओ के समाधान के प्रशिक्षण प्राप्त करने से विद्यार्थियों में ऐसे कौशल और अनुभव आ जाते है जिससे वे जीवन की समस्याओं का समाधान करना सीखते हैं।

(2) स्वाध्याय की आदत का निर्माण (Formation of Habit of Self-Study)—इस विधि से बालकों में स्वाध्याय की आदत का निर्माण होता है, जो आगे जीवन मे बहुत लाभकारी सिद्ध होता है। इससे अध्ययन के बारे में विद्यार्थियों को दूसरों पर निर्भर नही रहना पड़ता।

(3) तथ्यों का संग्रह और व्यवस्थित करना (Collection and Organisation of Data)— इस विधि से विद्यार्थी तथ्यो को एकत्रित करना सीखते हैं तथा इन एकत्रित तथ्यों को एकत्रित करने के पश्चात् उन्हें व्यवस्थित करना भी सीखते हैं। यह इस विधि की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है विशेषकर, शोध-कार्यो के लिये।

(4) अनुशासन को बढ़ावा (Encourage Discipline)—इस विधि से अनुशासन-प्रियता को बढ़ावा मिलता है, क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी समस्या का हल निकालने में ही जुटा रहता है। अत: उसके पास अनुशासन भंग करने का अवसर ही नहीं होता।

(5) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास (Development of Scientific Attitude)—इस विधि से विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता है। वे पुस्तकीय ज्ञान पर आश्रित नहीं रहते। मुद्रित पाठों का अन्धानुकरण नहीं करते।

(6) स्थायी ज्ञान (Permanent Knowledge)—इस विधि द्वारा अर्जित ज्ञान विद्यार्थियों के पास स्थायी रूप से रहता है, क्योंकि विद्यार्थियों ने स्वयं समस्या का समाधान ढूँढकर इस ज्ञान को अर्जित किया होता है।

समस्या-समाधान विधि के दोष अथवा सीमायें

समस्या-समाधान विधि के दोष अथवा सीमायें निम्नलिखित हैं—

(1) सन्दर्भ सामग्री का अभाव (Lack of Reference Materials)— इस विधि में विद्यार्थी को बहुत अधिक सन्दर्भ सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, जो आसानी से विद्यार्थी को उपलब्ध नहीं होती। कई ऐसी पुस्तकें समस्या का समाधान ढूँढने में आवश्यक होती हैं, जो प्राय: विद्यालय के पुस्तकालय में नहीं होतीं।

(2) चयनित अंशों का अध्ययन (Study of Selected Portions)— इस विधि का एक और दोष यह भी है कि विद्यार्थी सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का अध्ययन न कर केवल उन्हीं अंगों का अध्ययन करते हैं, जो उनकी चुनी हुई समस्या से सम्बन्धित हैं।

(3) अधिक समय खर्च होना (Requires Much Time)—इस विधि का एक व्यावहारिक दोष यह भी है कि इसमें समस्या के समाधान ढूँढने में विद्यार्थी का समय बहुत अधिक खर्च हो जाता है। इससे हमेशा यह भय बना रहता है कि पाठ्यक्रम पूरा होगा भी या नहीं।

(4) नीरस शैक्षणिक वातावरण (Dull Educational Environment)—इस विधि का कक्षा में अधिक प्रयोग होने से सम्पूर्ण शैक्षणिक वातावरण में नीरसता आ जाती है। अगर विद्यार्थी किसी एक समस्या पर कई दिन या कई सप्ताह कार्य करते हैं तो उस समस्या से उनकी रुचि समाप्त हो जाती है, क्योंकि बालक स्वभाव से ही विभिन्न प्रकार के कार्यों में भाग लेना चाहते हैं।

(5) समस्या का चुनाव एक कठिन कार्य (Selection of Problem is a Difficult Task)— भौतिक विज्ञान शिक्षण में समस्या-समाधान विधि का उपयोग इसलिये भी दोषपूर्ण या सीमित है क्योंकि समस्या का चुनाव करना बहुत ही कठिन कार्य होता है। प्रत्येक विद्यार्थी या शिक्षक समस्या का चुनाव नहीं कर सकता।

(6) अनुभवी शिक्षकों की आवश्यकता (Experienced Teachers are Required)—भौतिक विज्ञान शिक्षण में समस्या-समाधान विधि के प्रयोग के लिये कुशल, योग्य एवं अनुभवी शिक्षकों की आवश्यकता होती है जो कि समस्या का सावधानी से चुनाव कर सकें। लेकिन वास्तव में ऐसे गुणी शिक्षकों का अभाव ही रहता है।

PAPER-VI

विषय शिक्षण के तरीकें

[METHODS OF TEACHING SUBJECTS]

प्रश्न 1–शिक्षण से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में स्पष्ट कीजिये।

अथवा

शिक्षण का अर्थ स्पष्ट कीजिये तथा परिभाषित कीजिये।

उत्तर—शिक्षण को एक सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है। यही कारण है कि 'शिक्षण' शब्द की एक सर्वमान्य परिभाषा संभव नहीं है क्योंकि सामाजिक परिस्थितियों से शिक्षण की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त शिक्षण की प्रक्रिया को अन्य कारक भी प्रभावित करते हैं जैसे किसी राष्ट्र के शासन का स्वरूप, सामाजिक दर्शन, सामाजिक मूल्य एवं संस्कृति आदि। इन सामाजिक स्वरूपों तथा दर्शन के अनुसार भी 'शिक्षण' की परिभाषाएँ दी गई हैं।

किसी राष्ट्र की व्यवस्था के तीन रूप हो सकते हैं जो कि निम्नलिखित हैं—

1. एकतन्त्र शासन (Autocratic Government)
2. प्रजातन्त्र शासन (Democratic Government)
3. हस्तक्षेपरहित शासन (Laissez-Faire)

1. एकतन्त्र शासन में शिक्षण का अर्थ
(Meaning of Teaching in Autocratic)

एकतन्त्र शासन में यह धारणा होती है कि सदस्यों में कार्य करने की क्षमता होती है तथा वे आदेशों और निर्देशों का पालन कर सकते हैं, लेकिन उनमें कार्य के लिये पहल (Initiative) की क्षमता नहीं होती। सदस्यों की इच्छाओं तथा अभिवृत्तियों (Attitudes) को कोई स्थान नहीं दिया जाता।

एकतन्त्र शासन के अन्तर्गत शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान प्रधान माना जाता है तथा छात्र का स्थान गौण होता है। शिक्षक को आदर्श मानते हैं जो छात्रों को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करता है। एक शिक्षक छात्र की क्रियाओं को दिशा प्रदान करता है। शिक्षण के दौरान विद्यार्थी एकमात्र श्रोता होता है। इस दौरान शिक्षक अधिक सक्रिय होता है। इसमें शिक्षण केवल स्मृति-स्तर का ही होता है। छात्रों को अपनी क्षमताओं के विकास का अवसर प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार की व्यवस्था में शिक्षण की आलोचना के लिये कोई स्थान नहीं होता। इसमें शिक्षक विद्यार्थियों को अशुद्ध ज्ञान भी प्रदान कर सकता है। विद्यार्थियों को ऐसा ज्ञान स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस व्यवस्था के अनुसार **एच० सी० मोरीसन** (H.C. Morrison) ने शिक्षण को इस प्रकार परिभाषित किया है—

"शिक्षण वह प्रक्रिया है जिसमें अधिक परिपक्व व्यक्तित्व कम परिपक्व व्यक्तित्व के निकट सम्पर्क में आता है और कम परिपक्व व्यक्तित्व की अग्रिम शिक्षा के लिये परिपक्व व्यक्तित्व व्यवस्था करता है।

2. प्रजातन्त्र शासन में शिक्षण का अर्थ
(Meaning of Teaching in Democracy)

इस धारणा के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी-अपनी अभिवृत्तियों, अभिरुचियों तथा मूल्यों के स्वामी होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था उनके व्यवहारों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित करती है।

प्रजातन्त्र में शिक्षण को अन्त:क्रिया माना जाता है। अध्यापक तथा विद्यार्थियों के मध्य शाब्दिक तथा अशाब्दिक अन्त:क्रिया होती है। इस प्रकार की व्यवस्था में अध्यापक और छात्रों का सक्रिय होना अति आवश्यक होता है। इस प्रकार की व्यवस्था में यदि अध्यापक अकेला ही क्रियाशील होता है और विद्यार्थी क्रियाशील नहीं होते तो वह शिक्षण नहीं कहलाता।

इस प्रकार की शासन व्यवस्था मे एमीडोन (Edmund Amidon, 1967) ने शिक्षण की निम्नलिखित परिभाषा दी है—"शिक्षण को अन्त:क्रिया के रूप मे परिभाषित किया जाता है जिसके अन्तर्गत कक्षा-वार्ता को सम्मिलित किया जाता है जो शिक्षक और विद्यार्थी के मध्य होती है। कक्षा-वार्ता का सम्बन्ध अपेक्षित क्रियाओं से होता है।"

एन० एल० गेज (N. L. Gage, 1962) ने भी प्रजातन्त्र के दृष्टिकोण से शिक्षण की निम्नलिखित परिभाषा दी है—"शिक्षण पारस्परिक प्रभाव का स्वरूप है जो दूसरे व्यक्ति की व्यावहारिक क्षमता में परिवर्तन पर लक्षित होता है।"

3. हस्तक्षेपरहित शासन में शिक्षण का अर्थ
(Meaning of Teaching in Laissez-Faire)

इस सिद्धान्त की धारणा यह है कि व्यवस्था के सदस्यो में समस्या-समाधान की क्षमता भी होती है। वे निर्णय भी ले सकते है। इस प्रकार के शिक्षण में अध्यापक की अपेक्षा विद्यार्थी अधिक सक्रिय होता है। अध्यापक विद्यार्थियों के लिये ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देते है जो अपूर्ण होती है या उनमे कुछ बाधायें होती है। विद्यार्थी उन्हें पूरा करने का प्रयास करते हैं या बाधाएँ दूर करने का प्रयत्न करते हैं।। इस दौरान छात्र कुछ सीखते भी हैं। इस व्यवस्था में अध्यापक का स्थान एक मित्र के समान होता है। इसमे छात्र की सृजनात्मक क्षमताओं के विकास के लिये अवसर प्रदान किये जाते हैं।

इस प्रकार की व्यवस्था के अनुसार **जॉन बूबेकर** (John Brubacher) ने शिक्षण की परिभाषा निम्न प्रकार दी है—"शिक्षण में ऐसी परिस्थितियो की व्यवस्था की जाती है जिनमें कुछ रिक्त स्थान छोड़ दिये जाते हैं तथा कठिनाइयाँ उत्पन्न की जाती हैं, विद्यार्थी उन कठिनाइयों पर विजय पाने का प्रयास करता है तथा रिक्त स्थानों को पूरा करने का प्रयत्न करता है। ऐसा करते समय विद्यार्थी कुछ सीखेगा भी।"

शिक्षण की परिभाषाएँ

शिक्षण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित परिभाषाएँ अधिक सहायता करेंगी—

(a) शिक्षण का शब्दकोशीय अर्थ (Dictionary Meaning of Teaching)

(1) Dictionary of Psychological and Psychoanalytical Terms—इस शब्दकोश के अनुसार दूसरे को सीखने में मदद करने की प्रक्रिया को शिक्षण कहते हैं।

(2) The Little Oxford Dictionary के अनुसार—"ज्ञान प्रदान करना, कौशल का विकास करना, अनुदेशन देना, पाठ पढ़ाना तथा उन्हें उत्साहित करना शिक्षण का अर्थ है।"

(3) World Book Encyclopaedia के अनुसार—"शिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे को ज्ञान, कौशल तथा अभिरुचियों को सीखने या प्राप्त करने में सहायता करता है।"

(b) विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषाएँ (Deinitions Given by Expersts)

रायन्स (Ryans)—"दूसरों को सीखने के लिए दिशा निर्देश देने तथा अन्य प्रकार से उन्हें निर्देशित करने की प्रक्रिया को शिक्षण कहा जाता है।"

गेज (Gage)—"शिक्षण एक प्रकार का पारस्परिक प्रभाव है जिसका उद्देश्य है दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों में वांछित परिवर्तन लाना।"

स्किनर (Skinner)—शिक्षण पुनर्बलन की Contingencies का क्रम है।"

प्रश्न 2–शिक्षणशास्त्र के अनुसार शिक्षण के अर्थ को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—

शिक्षणशास्त्र के अनुसार शिक्षण का अर्थ

शिक्षण एक सामाजिक प्रक्रिया है इसलिए शिक्षण की व्यापक परिभाषा देना कठिन है। जो भी परिभाषायें दी गई हैं वे किसी न किसी सन्दर्भ में दी गई हैं। यहाँ शिक्षण की परिभाषाओं को शिक्षण क्रियाओं तथा अनुभव के सन्दर्भ में दिया जा रहा है। शिक्षण में शिक्षणशास्त्र के उपयोग तथा शिक्षक के दो प्रमुख योगदानों को सम्मिलित किया जाता है। शिक्षक के दो योगदान निम्न प्रकार हैं—

(1) अधिगम का स्वरूप (Scaffolding)—इसमे छात्र के कार्यों एवं क्रियाओं को व्यक्त किया जाता है। शिक्षक इनका सृजन करता है।

(2) मध्यस्थता (Mediation)—इसमे छात्रों के अनुभवों सम्बन्धी शिक्षक की मध्यस्थता की सार्थकता होती है।

इनकी सहायता से शिक्षण के प्रारूप को प्रस्तुत किया गया है—

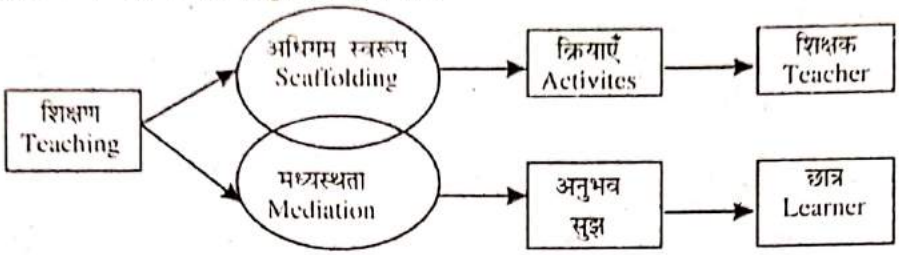

इस विश्लेषण में अधिगम के प्रारूप तथा अधिगम अनुभवों को महत्त्व दिया गया है। शिक्षणशास्त्र में शिक्षण को कला माना गया है। शिक्षण को कला के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

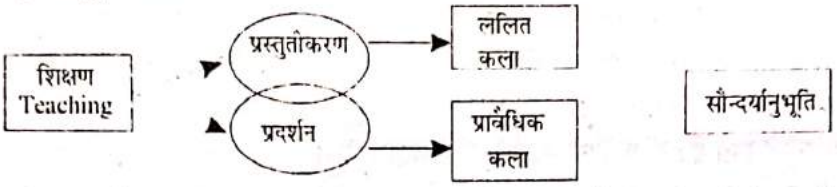

शिक्षणशास्त्र में शिक्षण को कला में रूप में प्रयुक्त करने के लिए प्रस्तुतीकरण और प्रदर्शन की क्रियाओं को महत्त्व दिया जाता है। प्रस्तुतीकरण में ललित कला और प्रदर्शन में प्रावैधिक कलाओं का उपयोग किया जाता है जिससे सौन्दर्यानुभूति होती है।

अधिगम के प्रारूप (Scaffolding) और मध्यस्थता (Mediation) घटकों की विस्तृत व्याख्या से शिक्षणशास्त्र की प्रक्रिया को रूपरेखा को निम्न चार्ट की सहायता से प्रस्तुत किया गया है—

शिक्षणशास्त्र की प्रक्रिया को रूपरेखा

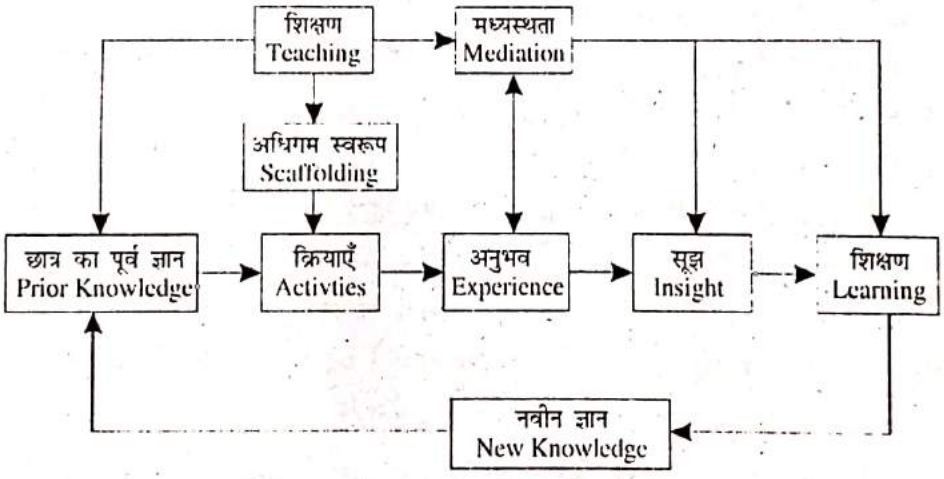

इस चार्ट के अन्तर्गत शिक्षण के अधिगम प्रारूप (Scaffolding) और मध्यस्थता (Mediation) पक्षों को शिक्षण की उपलब्धियों या परिणामों जैसे अनुभव, सूझ, अधिगम तथा नवीन ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है। शिक्षक पाठ्य-वस्तु तथा छात्रों के बीच मध्यस्थता करता है जिससे छात्रों के पूर्व ज्ञान को भी ध्यान में रखता है। अधिगम की क्रियाओं और मध्यस्थता के परिणाम छात्रों में अनुभव, सूझ तथा अधिगम के रूप में नवीन ज्ञान प्राप्त होता है। आगामी शिक्षण हेतु यह नवीन ज्ञान पूर्व ज्ञान के रूप में कार्य करता है। इस नवीन ज्ञान से स्थानान्तरण अधिगम की खोज की जाती है। यहाँ शिक्षण के प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया गया है—(1) शिक्षण अधिगम में सुविधा प्रदान करता है (Teaching as facilitation), (2) अध्ययन से समझौता करता है (Negotiated study), (3) शिक्षण अधिगम की सहायक प्रणाली (Teaching supporting process), (4) शिक्षण व्यवहार का प्रबन्धन करता है (Teaching as behaviour management)। इनका विवरण यहाँ दिया गया है।

1. शिक्षण का अधिगम में सुविधा प्रदान करना (Teaching as Facilitation)—शिक्षण के प्रारूप में अधिगम हेतु मुक्त रूप मे सुविधाये प्रदान को जाती हैं। अधिगम प्रारूप तथा मध्यस्थता में शिक्षण द्वारा सन्तुलन बनाया जाता है क्योंकि दोनों का लक्ष्य नवीन ज्ञान प्रदान करना है। इस सन्दर्भ में उत्पादन में विशिष्ट मूल्यों को स्थान दिया जाता है। शिक्षण द्वारा उत्पादन छात्रों के अनुभवों के रूप में होता है जिससे नवीन ज्ञान कौशल, अभिवृत्तियों तथा अभिरुचियों का विकास अधिगम के रूप में होता है।

2. शिक्षण अध्ययन से समझौता है (Teaching as Negotiated Study)—शिक्षण प्रारूप के अन्तर्गत शिक्षण के अनेक बिन्दुओ पर अध्ययन से समझौता कराया जाता है। यह अध्यापन समझौता एक उत्पादन के रूप में अनुभव तथा ज्ञान के रूप मे होता है।

3. शिक्षण अधिगम की सहायक प्रणाली है (Teaching as Supporting Process to Learning)—शिक्षण के प्रारूप मे शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को अनेक प्रकार से सहायता करती है। छात्रों की कठिनाइयों के निर्वाकण के उपचार (Remediation) का कार्य करती है। प्रदर्शन में सहायक सामग्री के उपयोग से प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली होता है। छात्र प्रदर्शन में अधिक रुचि लेते हैं।

4. शिक्षण कक्षा में व्यवहार का प्रबन्धन करता है (Teaching as Behaviour Management Class)—अधिगम के प्रारूप (Scaffolding) में नियमों, शिक्षण सूत्रों, अनुवर्ग शिक्षण (Coaching), दृश्य सामग्री आदि का उपयोग किया जाता है। इन्हें संकेतों के रूप में प्रयुक्त किया है जिसे अशाब्दिक व्यवहार कहते हैं जो छात्रों के व्यवहार को नियन्त्रित और प्रोत्साहित करता है। मध्यस्थता के व्यवहार में वाद-विवाद, पुनर्बलन, अनुभवों को विकसित रूप में प्रयुक्त करते हैं। मध्यस्थता के अन्तर्गत अनौपचारिक तथा स्वाभाविक परिणाम प्राप्त होते हैं। मध्यस्थता की प्रभावशीलता समुचित विधियों, प्रविधियों तथा सूत्रों के उपयोग पर निर्भर होती है। इनका चयन अधिगम के प्रारूप के अनुरूप होता है। ➤

प्रश्न 3–शिक्षण अधिगम तथा अनुदेशन में सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

अथवा

शिक्षण, अधिगम तथा अनुदेशन में अन्तर कीजिये।

उत्तर—

शिक्षण, अधिगम और अनुदेशन

शिक्षण-प्रक्रिया का लक्ष्य है अधिगम को प्रभावशाली बनाना। दूसरे शब्दों में शिक्षण का परिणाम अधिगम ही होना चाहिए। अतः शिक्षण प्रत्यय (Concept of Teaching) अधिगम की अनुपस्थिति में कभी पूर्ण नहीं हो सकता है। **बी० ओ० स्मिथ** के अनुसार, "शिक्षण-क्रियाओं द्वारा अधिगम उत्पन्न करने की इच्छा की जाती है। (Teaching is a system of actions intended to produce learning.)

वुडवर्थ (Wood Worth) ने अधिगम को परिभाषित करते हुए कहा है, "नया ज्ञान और अनुक्रियाओं को अर्जित करने की प्रक्रिया को सीखने की प्रक्रिया कहते हैं।"

स्किनर (Skinner) के अनुसार, "सीखना व्यवहार में उत्तरोतर सामंजस्य की प्रक्रिया है।"

जे० पी० गिलफोर्ड (J.P. Guilford) के अनुसार, "व्यवहार के कारण परिवर्तन ही सीखना है।"

क्रो एवं क्रो (Crow and Crow) के अनुसार, "सीखना आदतों, ज्ञान एवं अभिवृत्तियों को अर्जित करना है।"

एन० एल गेज (N.L. Gage) के अनुसार शिक्षा मनोविज्ञान में शिक्षण केन्द्रीय बिन्दु होना चाहिये। लेकिन केन्द्रीय बिन्दु अधिगम को ही माना जाता है। कक्षा की समस्याओं के समाधान के लिये केवल अधिगम के तत्त्वों या नियमों का अध्ययन करके ही समाधान नहीं ढूँढा जा सकता। केवल उन्हीं के अध्ययन से हम शिक्षण में सुधार नहीं ला सकते।

अधिगम और शिक्षण, दोनों का ही लक्ष्य बालक के व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन लाकर उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना होता है। दोनों प्रक्रियाओं को अलग-अलग रखना अनुचित होगा। शिक्षण की प्रक्रिया इस प्रकार से आयोजित की जाये कि जिससे अधिक अधिगम हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षण वह प्रक्रिया है जो विद्यार्थियों को कुछ उद्देश्यों की ओर प्रभावित करती है। इस प्रक्रिया में शिक्षक और विद्यार्थी में अन्तःक्रिया होती है। अनुदेशन भी वह प्रक्रिया है जो विद्यार्थी को कुछ उद्देश्यों की ओर प्रभावित करती है, लेकिन इसमें शिक्षण की भाँति शिक्षक और विद्यार्थी में पारस्परिक अन्तःप्रक्रिया होती है। संक्षेप में शिक्षण में अनुदेशन सम्मिलित होता

है। लेकिन मात्र अनुदेशन को पूर्ण शिक्षण नहीं कहा जा सकता। शिक्षण-प्रक्रिया द्वारा ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक पक्षों (Congnitive, Affective and Psychomotor Aspects) का विकास संभव है, जबकि अनुदेशन प्रक्रिया में केवल ज्ञानात्मक पक्ष का विकास ही संभव है।

शिक्षण और अनुदेशन प्रक्रियाओं में अधिगम सम्मिलित होता है। जहाँ ये दोनों प्रक्रियायें होंगी वहाँ अधिगम होगा, लेकिन सभी प्रकार के अधिगम के लिये शिक्षण और अनुदेशन आवश्यक नहीं। शिक्षण और अनुदेशन के बिना भी अधिगम संभव है। शिक्षण और अनुदेशन का कार्य अधिगम को प्रभावित करना है। अधिगम विद्यार्थियों से सम्बन्धित मानसिक प्रक्रिया है तथा शिक्षण अधिगम में सहायता पहुँचाने वाली बाहरी प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में क्रियाओं और अनुभवों द्वारा व्यवहार में परिवर्तन आने को ही अधिगम कहते हैं।

शिक्षण के स्वरूप को स्पष्ट समझने के लिए निम्नांकित चित्र काफी लोकप्रिय हुआ है। शिक्षण, अनुदेशन तथा अधिगतम यद्यपि आपस में सम्बन्धित प्रत्यय हैं फिर भी इनमें काफी अन्तर है। यह अन्तर पिछले पृष्ठों पर सारणी के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। नीचे दिया गया चित्र इन तीनों प्रत्ययों में सम्बन्ध प्रदर्शित करता है।

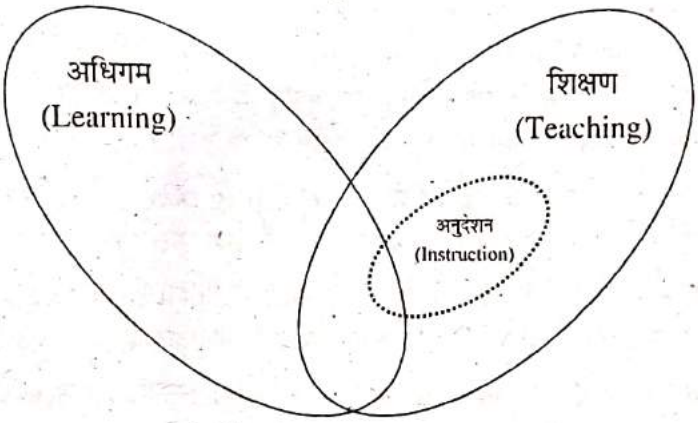

चित्र-शिक्षण, अनुदेशन तथा अधिगम में सम्बन्ध

ग्रीन (Green, 1964) ने शिक्षण की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए 'Teaching Topology' का निर्माण किया है। निम्नांकित चित्र **ग्रीन** के द्वारा दी गयी '**टोपोलोजी**' को प्रदर्शित करता है—

प्रशिक्षण (Training) ⟷ अनुदेशन (Instruction)

↕

अनुकूलन (Conditioning) ⟷ (Indoctrinating)

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि ग्रीन की शिक्षण प्रक्रिया में चार विशिष्ट स्तर हैं—(1) अनुकूलन (Conditioning), (2) प्रशिक्षण, (3) अनुदेशन तथा (4) Indoctrinating इन चारों प्रत्ययों में अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं है। ये चारों स्तर इन्द्रधनुष में विभिन्न रंगों की भाँति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। **ग्रीन** का कथन है कि "शिक्षण के स्वरूप को समझने के लिए शिक्षण के इन तत्त्वों को समझना अधिक उपयोगी है। जब हमें शिक्षण के इन तत्त्वों या स्तरों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है तब हम शिक्षण के सच्चे स्वरूप को समझ पाते हैं।

"The concept of teaching is molecular *i.e.* as an activity it can best be understood not as single activity but as a whole family of activities." ➤

प्रश्न 4—शिक्षण की प्रकृति स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—

शिक्षण की प्रकृति
(Nature of Teaching)

शिक्षाशास्त्रियों तथा मनोविज्ञानिकों ने शिक्षण प्रक्रियाओं की अनेकों परिभाषायें दी हैं। उनके विश्लेषण से शिक्षण की प्रकृति का बोध होता है। अधोलिखित कथनों के रूप में शिक्षण की प्रकृति की व्याख्या की जा सकती है—

(1) शिक्षण एक अन्त: प्रक्रिया है (Teaching is an Interactive Process)—शिक्षक तथा छात्रों के मध्य विशेष कार्य के लिये संचालित होती है।

(2) शिक्षण एक सामाजिक तथा व्यावसायिक प्रक्रिया है (Teaching is a Social and Professional Acitivity)—शिक्षक की प्रक्रिया शिक्षक तथा छात्रों के समूहों मे ही सम्पादित की जाती है। कम से कम एक शिक्षक और एक छात्र होना नितान्त आवश्यक होता है। शिक्षण एक व्यावसायिक क्रिया है, जिसे वे व्यक्ति अपने जीवनकोपार्जन का साधन बनाते हैं, जिन्हें शिक्षक कहते है।

(3) शिक्षण एक सोद्देश्य प्रक्रिया है (Teaching is a Purposeful or Objective -Centred Process)—शिक्षण की क्रियायें किन्ही विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये की जाती हैं।

(4) शिक्षण एक विकासात्मक प्रक्रिया है (Teaching is a Process of Development)– शिक्षण प्रक्रिया के द्वारा बालकों का विकास किया जाता है और उनके व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाया जाता है। ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक पक्षों का विकास किया जाता है।

(5) शिक्षण कला तथा विज्ञान दोनों ही है (Teaching is a Science as well as an Art)— शिक्षण की प्रकृति कलात्मक तथा वैज्ञानिक दोनों ही है। शिक्षण नियोजन तथा मूल्यांकन क्रियाओं की प्रकृति वैज्ञानिक अधिक है, जबकि शिक्षण का प्रक्रिया पक्ष कलात्मक है, जिसमें शिक्षक अपने कौशल का प्रयोग करता है।

(6) शिक्षण एक भाषा सम्प्रेषण का कार्य करती है (Teaching is a Linguistic Process)— शिक्षण में तथ्यों, प्रत्ययों, सिद्धान्तों तथा सामान्यीकरण का बोध भाषा के प्रयोग द्वारा शिक्षक करता है।

(7) शिक्षण एक आमने-सामने होने वाली प्रक्रिया है (Teaching is a Face to Face Activity)—शिक्षण क्रियाओं के समय शिक्षक तथा छात्र आमने-सामने बैठते हैं और स्वोपक्रम तथा अनुक्रियायें करते हैं।

(8) शिक्षण एक उपचार विधि है (Teaching is Prescription)—शिक्षण में छात्रों की कमजोरियों का निदान करके उन्हें सुधार के लिये उपचार दिया जाता है।

(9) शिक्षण एक तार्किक क्रिया है (Teaching is a Logical Activity)—शिक्षण का नियोजन शिक्षक की तर्क-शक्ति पर ही आधारित होता है। पाठ्यवस्तु का विश्लेषण तथा संश्लेषण तर्क-शक्ति के द्वारा ही किया जाता है।

(10) शिक्षण का मापन किया जाता है (Teaching is Measurable)—शिक्षण का मापन शिक्षक के व्यवहार के रूप में किया जाता है। निरीक्षण विधियों द्वारा शिक्षक-व्यवहारों का मापन और व्यवहार के स्वरूप का विश्लेषण भी किया जाता है।

(11) शिक्षण में सुधार तथा विकास भी किया जाता है (Teaching is Modifiable)— पृष्ठपोषण की प्रविधियों के द्वारा शिक्षण में अपेक्षित सुधार भी किया जाता है।

(12) शिक्षण प्रशिक्षण से लेकर अनुदेशन तक एक सतत प्रक्रिया है (Teaching is Continuous from Training, Conditioning Instruction and Indoctrination)—शिक्षण प्रक्रिया प्रशिक्षण से आरम्भ होती है और क्रमागत चढ़ाव के रूप में अनुदेशन तक चलती है।

(13) शिक्षण एक त्रिध्रुवीय प्रक्रिया है (Teaching is a Tripolar Process)—अधिकांश शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षण को त्रिध्रुवीय प्रक्रिया कहा है। ब्लूम के अनुसार शिक्षण के तीन पक्ष (1) शिक्षण उद्देश्य, (2) सीखने के अनुभव तथा (3) व्यवहार-परिवर्तन होते हैं।

(14) शिक्षण एक निर्देशन की प्रक्रिया है (Teaching is a Guidance)—शिक्षण में छात्रों की योग्यता के अनुसार उनके विकास का प्रयास किया जाता है। यही लक्ष्य निर्देशन का होता है।

(15) शिक्षण एक औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रक्रिया है (Teaching is a Formal and Informal Process)—शिक्षा-प्रक्रिया विद्यालय में निश्चित कार्यक्रम के अनुसार सम्पादित की जाती है और विद्यालय के बाहर भी संचालित की जाती है।

प्रश्न 5—शिक्षण के घटक एवं उनके कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर—

शिक्षण के घटक
(Components of Teaching)

शिक्षण प्रक्रिया मे तीन चर (Variables) शिक्षक, छात्र एवं पाठ्य-पुस्तक होते है—

(1) शिक्षक—शिक्षण प्रक्रिया मे शिक्षक को स्वतन्त्र चर (Independent Variables) की सज्ञा दी जाती है। शिक्षण व्यवस्था, नियोजन तथा उसका संचालन शिक्षक द्वारा किया जाता है।

(2) छात्र—शिक्षण प्रक्रिया में छात्र को आश्रित चर (Dependent Variable) माना जाता है क्योंकि शिक्षण नियोजन, व्यवस्था तथा प्रस्तुतीकरण के अनुरूप ही उसे क्रियाशील रहना पड़ता है।

(3) पाठ्यवस्तु—शिक्षण प्रविधियाँ—इनको हस्तक्षेप चर (Intervening Variables) की संज्ञा दी जाती है। शिक्षक तथा छात्र के मध्य अन्त:प्रक्रिया का माध्यम शिक्षण विधि तथा शिक्षण सामग्री का स्वरूप उनकी अनुक्रियाओं में हस्तक्षेप करती है। विज्ञान की पाठ्य-वस्तु के शिक्षण में प्रदर्शन तथा प्रयोग विधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं जबकि इतिहास की पाठ्य-वस्तु के लिये कहानी विधि अधिक प्रयुक्त की जाती है।

शिक्षण घटकों के कार्य
(Functions of Teaching Components)

शिक्षण प्रक्रिया के संचालन में शिक्षण घटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शिक्षण चरों को तीन प्रमुख क्रियायें करनी होती हैं—

(1) निदान (Diagnosis) करना—निदानात्मक कार्य।

(2) उपचार (Prescription) देना, तथा उपचारी कार्य।

(3) मूल्यांकन (Evaluation) करना या अनुगामी कार्य।

शिक्षण-प्रक्रिया में स्वतन्त्र चर (शिक्षक) तथा आश्रित चर (छात्र) ही इन तीन क्रियाओं को सम्पादित करते हैं—

(1) निदानात्मक क्रियाएँ (Diagnostic Functions)—इसमें स्वतन्त्र चर (शिक्षक) अधिक क्रियाशील रहता है। शिक्षक यह निर्णय लेता है कि शिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शिक्षार्थी का पूर्व-व्यवहार तथा कौशल क्या होना चाहिए? जिससे छात्र नवीन ज्ञान को सीख सकें और उद्देश्यों की अधिकतम प्राप्ति की जा सके। इस कार्य में शिक्षक पाठ्य-वस्तु तथा विद्यार्थी दोनों को ही ध्यान में रखता है। छात्रों के पूर्व-व्यवहार (Entering-Behaviour) को निर्धारित करता है और पाठ्य-वस्तु के अवयवों का विश्लेषण करके क्रमवद्ध रूप में व्यवस्थित करता है। इसमें अग्रांकित बातों पर विचार किया जाता है और इनके सम्बन्ध में शिक्षक निर्णय लेता है—

(अ) शिक्षण की समस्याओं का विश्लेषण करना (Analysis of teaching problems),

(ब) छात्रों के पूर्व-व्यवहार का निर्धारण करना (Entering behaviour of pupils),

(स) व्यक्तिगत भिन्नता की जानकारी करना (Individual differences),

(द) कार्य विश्लेषण करना (Task Analysis) तथा

(य) पाठ्य-पुस्तक का विश्लेषण सीखने में स्वरूपों की दृष्टि से करना

(Analysis of content in view of types of learning)।

इसमें शिक्षक निदान के लिये दो आयामों का अनुसरण करता है—(1) छात्रों के पूर्व-व्यवहार को निदानात्मक परीक्षा द्वारा ज्ञात करता है, (2) पाठ्य-वस्तु का विश्लेषण करके उसके तर्कपूर्ण ढंग से अवयवों की व्यवस्था की करता है जिससे मनोवैज्ञानिक ढंग से क्रमवद्ध रूप में कार्य किये जा सकें। इसके अतिरिक्त यह पक्ष द्वितीय पक्ष के लिये आधार प्रदान करता है।

आश्रित चर (छात्र) अपने प्रत्यक्षीकरण तथा अनुभवों के आधार पर निदान करके अनुक्रियायें करता है, जिसमें छात्र की भाषा की बोधगम्यता, क्षमतायें, कौशल, निष्पत्ति तथा व्यवहार की अभिव्यक्ति प्रमुख तत्त्व होते हैं। छात्र तथा शिक्षक के मध्य अन्त:प्रक्रिया में दोनों ही चर एक-दूसरे का निदान करते हैं तथा अनुक्रिया के लिये निर्णय लेते हैं।

(2) उपचारी कार्य (Prescriptive Functions)—यह दोनो ही चर शिक्षक तथा छात्र आपसी सम्बन्ध के बारे में निर्णय लेते हैं क्योकि चरो में ही सही सम्बन्ध स्थापित करने पर ही उद्देश्यो को प्राप्ति की जा सकती है। शिक्षण युक्तियो तथा प्रविधियो (Teaching strategies and tactics) के सम्बन्ध में भी निर्णय लिया जाता है।

इस कार्य का मुख्य लक्ष्य अपेक्षित व्यवहार-परिवर्तन लाना है। अत: शिक्षण में पृष्ठपोषण की विधियों (Feedback devices) का विशेष महत्त्व होता है। इस सम्बन्ध में भी शिक्षक को निर्णय लेकर शिक्षण की विधियों को प्रयुक्त करना होता है।

शिक्षण में व्यक्तिगत भिन्नता की प्रमुख समस्या रही है। इसलिये एक कुशल शिक्षक को छात्रों की व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखते हुए अपनी युक्तियों एवं प्रविधियों का प्रयोग करना चाहिये और कक्षा-शिक्षण की समस्याओं के समाधान के लिये **क्रियात्मक अनुसन्धान** की भी सहायता लेनी चाहिये। इसमें शिक्षक का प्रयास यह रहता है कि शिक्षक के अन्य चरों की व्यवस्था किस प्रकार की जाये जिससे अधिकतम उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। इसके प्रमुख तत्व दो हैं—

(अ) शिक्षण-कौशल को व्यवहार में लाना, (ब) पृष्ठपोषण की प्रविधियों की समुचित व्यवस्था करना।

छात्र प्रस्तुतीकरण के समय क्रियायें कम करता है। इसमें शिक्षक ही अधिक क्रियाशील रहता है, परन्तु कभी-कभी शिक्षक की कठिनाई के समाधान में सहायता करता है। प्रदर्शन में शिक्षक की सहायता करता है और अपेक्षित साधन जुटाता है।

(3) मूल्यांकन कार्य (Evaluation Functions)—मूल्याकंन, शिक्षण का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। बिना मूल्याकंन के शिक्षण-प्रक्रिया को पूर्ण नहीं माना जाता है। इसका प्रमुख कार्य द्वितीय कार्य की प्रभावशीलता की जाँच करना है। मूल्याकंन का मानदण्ड उद्देश्यों की प्राप्ति माना जाता है। यदि उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकी है तो इसका अर्थ यह होता है कि शिक्षक का उपचार दोषपूर्ण है। अत: द्वितीय पक्ष के तत्त्वों का निदान किया जाये और उनमें परिवर्तन किया जाये। इसके लिये छात्रों को दोषी नहीं माना जाता है। अपितु द्वितीय पक्ष की व्यवस्था को दोषपूर्ण माना जाता है। इस पक्ष के दो प्रमुख तत्त्व होते हैं—

(1) मानदण्ड परीक्षा की रचना करना (Construction of Criterion Test)।

(2) व्यवहार-परिवर्तन का मूल्याकंन करना (Evaluation of Change of Behaviour).

मूल्याकंन के समय (छात्र) आश्रित चर को तीनों क्रियायें करनी पड़ती हैं। मानदण्ड परीक्षा के पदों का निदान करके उनका उत्तर देता है। छात्र प्रश्न का निदान अपनी निष्पत्ति, योग्यता तथा कौशल के आधार पर करता है तथा इन्हीं के आधार पर अनुक्रिया करता है जिसे छात्र का उपचार भी कह सकते हैं। अपने अनुक्रिया की शुद्धता के सम्बन्ध में जानने का प्रयास करता है जिससे उसको पुनर्बलन भी मिलता है। शिक्षण के चरों तथा कार्यों को चार्ट द्वारा अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रश्न 6-शिक्षण के उद्देश्यों का वर्णन कीजिये। उत्तम शिक्षण की विशेषताओं को समझाइये।

उत्तर—

शिक्षण का उद्देश्य

शिक्षा एक सोद्देश्य प्रक्रिया है। इसके निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं—

1. शिक्षण का लक्ष्य छात्र की सहायता करना है जिससे वह उत्तम चिन्तक तथा उत्तम कार्यकर्त्ता बन सके।

2. छात्रों की सहायता करना जिससे वह अपनी अनुभूतियों तथा प्रत्यक्षीकरण के साथ समायोजन करते हुए वास्तविकता को समझ सकें और अपने आन्तरिक तथा बाह्य अनुभवों के साथ समन्वय कर सकें।

3. किसी दिन, किसी प्रकार, किसी जगह, किसी की सहायता कर सकें जिससे वे अपने को नया अनुभव करा सकें तथा रचनात्मक कार्य कर सकें।

4. शिक्षण का लक्ष्य विद्यार्थी को ऐसी सुविधा प्रदान करना है जिससे वह अपने अहम् के परिपाक से सत्य के सम्बन्ध में निर्णय ले सके।

उत्तम शिक्षण की विशेषताएँ

एक उत्तम शिक्षण की विशेषतायें प्रभावशाली शिक्षक के गुणों से सम्बन्धित होती हैं। एक प्रभावशाली शिक्षक की तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं—

(1) शिक्षक की योग्यता (Presage Factors),

(2) शिक्षक कुशलता (Process Factors) तथा

(3) शिक्षक की उपलब्धियाँ (Product Factors)।

इस प्रकार उत्तम शिक्षण एक प्रभावशाली अध्यापक की एक प्रमुख विशेषता मानी जाती है जिसे शिक्षण कुशलता माना जाता है। उत्तम शिक्षण की विशेषताओं का उल्लेख समाज तथा शासन के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। प्रत्येक शासन प्रणाली की उत्तम शिक्षण की विशेषतायें अलग-अलग होती हैं।

एकतन्त्र शासन मे उत्तम शिक्षण उसे कहा जाता है जिसमें शिक्षक अपने व्यक्तिगत गुणों से छात्र को अन्त:प्रक्रिया द्वारा प्रभावित कर, ऐसे मूल्यों तथा गुणो का विकास करे जो राज्य अथवा शासन के हित में हो। इसमें राज्य का हित ही सर्वोपरि माना जाता है तथा छात्र-हित को ध्यान मे नहीं रखा जाता है।

प्रजातन्त्र शासन मे उत्तम शिक्षण उसे कहा जाता है जिसमें शिक्षक छात्र की अन्त:प्रक्रिया द्वारा विद्यार्थी की क्षमताओं का बहुमुखी विकास कर सके। छात्र अपने व्यक्तित्व तथा अपने मूल्यों का पूर्ण विकास कर सके। छात्र का हित ही सर्वोपरि होता है तथा राज्य का हित गौण माना जाता है। इस प्रकार के उत्तम शिक्षण की निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं—

1. शिक्षक अपनी मौलिक क्षमताओं से ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सके जिससे छात्रों की सृजनात्मक क्षमताओं का विकास हो।
2. उत्तम शिक्षण में शिक्षक का उत्तरदायित्व अधिक होता है, उसे दार्शनिक, निर्देशक तथा मित्र का कर्त्तव्य निभाना होता है। छात्र की क्रियाओं को समुचित पुनर्बलन प्रदान करना होता है।
3. उत्तम शिक्षण में अध्यापक का कक्षा-व्यवहार, अप्रत्यक्ष-व्यवहार (indirect-behaviour) अधिक होता है और प्रत्यक्ष-व्यवहार (direct-behaviour) कम होता है। अप्रत्यक्ष-व्यवहार से छात्रों का निष्पत्ति स्तर ऊँचा रहता है।
4. उत्तम शिक्षण में कला-व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये जिसमें शिक्षण की क्रियायें भली प्रकार की जा सकें। शिक्षक के व्यवहार में स्थायित्व तथा स्पष्टता होनी चाहिये।
5. उत्तम शिक्षण का कक्षा-वातावरण इस प्रकार का होना चाहिये जिससे प्रत्येक छात्र स्वेच्छा से समायोजन कर सकें। छात्र-शिक्षक सम्बन्ध मधुर होने चाहियें।
6. उत्तम शिक्षण में छात्रों की समस्याओं के समाधान में शिक्षण का पूर्ण सहयोग होना चाहिये।
7. उत्तम शिक्षण में ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता होती है जो मानवीय व्यवहार को समझने की सूझ रखते हों तथा अपने कार्य में लगन एवं तत्परता रखते हों।
8. उत्तम शिक्षण वह होता है जो अधिगम के लिये समुचित वातावरण उत्पन्न करता हो और शिक्षण की क्रियाओं का सम्बन्ध अधिगम स्वरूपों में होता है।
9. अच्छा शिक्षण वर्तमान तथा भावी तैयारी का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।
10. अच्छा शिक्षण बालक की प्रसुप्त तथा प्रच्छन्न योग्यताओं का विकास करता है।
11. उत्तम शिक्षण में शिक्षक दार्शनिक, निर्देशक तथा मित्र के रूप में कर्त्तव्य निभाता है।
12. अच्छे शिक्षण में शिक्षक का कक्षा-व्यवहार अप्रत्यक्ष अधिक होता है और प्रत्यक्ष कम होता है।
13. अच्छे शिक्षण में शिक्षण के व्यवहार में स्थायित्व तथा स्पष्टता होती है।
14. अच्छा शिक्षण निर्देशात्मक होता है (आदेशात्मक नहीं)।
15. अच्छा शिक्षण छात्र व शिक्षकों के सहायोग पर आधारित होता है।
16. अच्छा शिक्षण छात्रों के पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है।
17. अच्छा शिक्षण प्रगतिशील होता है।
18. अच्छे शिक्षण में सभी कार्यों, शिक्षण विधियों तथा दशाओं का समावेश होता है।
19. अच्छा शिक्षण संवेगात्मक स्थिरता उत्पन्न करता है।
20. अच्छा शिक्षण छात्रों को वातावरण से अनुकूलन करने में सहायता देता है।
21. अच्छा शिक्षण निदानात्मक तथा उपचारात्मक होता है।

प्रश्न 7-निम्नलिखित में अन्तर स्पष्ट कीजिये :

1. शिक्षण एवं प्रशिक्षण 2. शिक्षण और अनुबन्धन

1. शिक्षण एवं प्रशिक्षण

उत्तर—

शिक्षण का कार्य अनेक सन्दर्भों में होता है। एक शिक्षक कई बार इसलिये पढ़ाता है कि उसके द्वारा छात्रों के व्यवहार को एक सुनिश्चित रूप दिया जाये या उनकी आदतों में सुधार या परिवर्तन लाया जाये। कई बार एक शिक्षक इसलिये भी पढ़ाता है कि वह छात्रों की धारणाओं, मान्यताओं और विश्वासों को एक निश्चित रूप दे सके या उन्हें कुछ ज्ञान प्रदान कर सके। **ग्रीन** महोदय (Thoman Green,) के अनुसार इन दो सन्दर्भों में भी इन दो बातों के कारण हैं—

(अ) किसी को यह पढ़ाना कि किसी कार्य को करने का यह ढंग है, और

(ब) किसी को यह पढ़ाना कि तथ्य या वस्तु ऐसी है।

पहली अभिव्यक्ति में शिक्षण का केन्द्र-बिन्दु व्यवहार के निर्माण पर है और दूसरे वाक्य में शिक्षण का केन्द्र-बिन्दु ज्ञान का प्रसारण है। पहले सन्दर्भ में शिक्षक किसी को कोई कार्य करना या क्रिया करना बतलाता है। दूसरे सन्दर्भ में शिक्षक किसी को ज्ञान प्रदान करता है। इस बात को हम चित्रात्मक रीति से इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

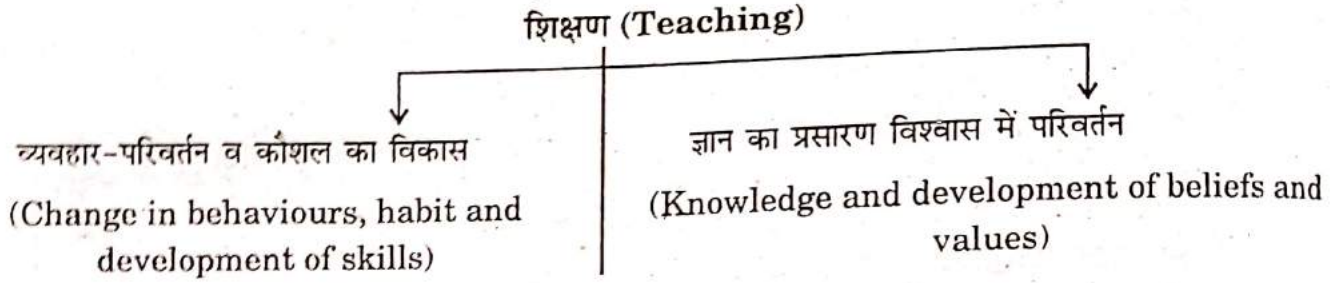

शिक्षण और प्रशिक्षण इस बात पर निर्भर करता है कि जिस व्यवहार का हम शिक्षण या प्रशिक्षण देना चाहते हैं उसमें बुद्धि की अभिव्यक्ति कितनी मात्रा में होती है। बुद्धि मनुष्य का गुण है; न कि उसकी मांसपेशियों या शरीर के अंगों का, जैसे—आँख, कान आदि। हम कभी यह नहीं कहते हैं कि एक मनुष्य के पास बुद्धिमान अंगुलियाँ, पैर अथवा आँखें हैं। इसीलिये हम कह सकते हैं कि हम एक व्यक्ति को पढ़ाते हैं किन्तु मांसपेशियों को प्रशिक्षण करते हैं। **ग्रीन महोदय** ने शिक्षण और प्रशिक्षण के अन्तर को स्पष्ट करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—"वांछित व्यवहार के प्रशिक्षण में बुद्धि के प्रकटीकरण की मात्रा का अनुपात जितना अधिक होगा उतनी ही आसानी से शिक्षण और प्रशिक्षण को एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकेगा। वांछित व्यवहार में जिस अनुपात में बुद्धि का प्रकटीकरण नहीं होता है। उस अनुपात में हम प्रशिक्षण-पद का प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु शिक्षण का नहीं।"

इस सिद्धान्त में **थॉमस एफ० ग्रीन** महोदय ने व्यक्ति में जिसको शिक्षण या प्रशिक्षण दिया जा रहा है उसकी बुद्धि के बारे में कुछ नहीं कहा है; किन्तु जो बात सिखाई जा रही है उसमें बुद्धि की क्रियाशीलता कितनी है, इसका उल्लेख किया है। अत: शिक्षण का सीधा सम्बन्ध सैद्धान्तिक पक्षों एवं ज्ञान के प्रतिपादन तथा विश्वास के परिवर्तन के साथ है और प्रशिक्षण का सीधा सम्बन्ध व्यवहार-परिवर्तन के साथ है। फिर भी इन व्यवहार-परिवर्तनों में जिनमें बुद्धि के प्रकटीकरण का अनुपात अधिक होता है वहाँ भी शिक्षण का प्रयोग सामान्यतया खटकता नहीं है। व्यवहार-परिवर्तन के उन सन्दर्भों में जहाँ बुद्धि के प्रकटीकरण का अनुपात कम होता है अर्थात् जहाँ कुछ करने या कौशलों के सीखने का सम्बन्ध रहता है वहाँ प्रशिक्षण शब्द का प्रयोग ही किया जा सकता है, शिक्षण का नहीं।

2. प्रशिक्षण और अनुबन्धन (Training and Conditioning)—उपर्युक्त विवेचन में हमने यह स्पष्ट किया कि शिक्षण का सम्बन्ध उन व्यवहारों से है जिनमें बुद्धि का प्रदर्शन अधिक मात्रा में होता है। प्रशिक्षण में बुद्धि के प्रदर्शन की मात्रा घटती जाती है। यदि बुद्धि के प्रदर्शन की मात्रा धीरे-धीरे और घटती जाये तो हम अनुबन्धन के संप्रत्यय के निकट पहुँचते जाते हैं और प्रशिक्षण के संप्रत्यय से भी दूर होते जाते हैं। हम किसी कुत्ते को शिक्षित या प्रशिक्षित करते हैं क्योंकि उसके व्यवहार में हमें बुद्धि की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। एक प्रशिक्षित कुत्ते को जब हम कोई गेंद लाने के लिये, उछालने के लिये, या दौड़कर कुछ पकड़ने के लिये शिक्षित करते हैं तब वह इन कार्यों को करता है और इनमें हमें बुद्धि की झलक मिलती है। हम उस कुत्ते को एक आज्ञाकारी कुत्ता कहते हैं; किन्तु जब हम किसी कुत्ते को घंटी की आवाज पर लार टपकाना सिखाते हैं इसे शिक्षण या प्रशिक्षण नहीं कहा जा सकता क्योंकि लार टपकाने की प्रक्रिया एक प्राकृतिक सहज क्रिया है। (Natural Reflex Action) है जिसमें बुद्धि की अभिव्यक्ति नहीं होती। अत: हम कुत्ते को गेंद रोकने या लाने का शिक्षण या प्रशिक्षण देते हैं किन्तु घंटी की आवाज पर लार टपकाने को अनुबन्धन कहते हैं।

प्रशिक्षण की प्रक्रिया में जैसे-जैसे बुद्धि के प्रयोग या प्रकटीकरण की मात्रा घटती जाती है वैसे ही वैसे प्रशिक्षण की प्रक्रिया अनुबन्धन का उदाहरण बनती जाती है। ग्रीन महोदय ने शिक्षण, प्रशिक्षण, अनुबन्धन आदि के संप्रत्ययों के भेद एवं सम्बन्धों को द्वारा स्पष्ट किया है—

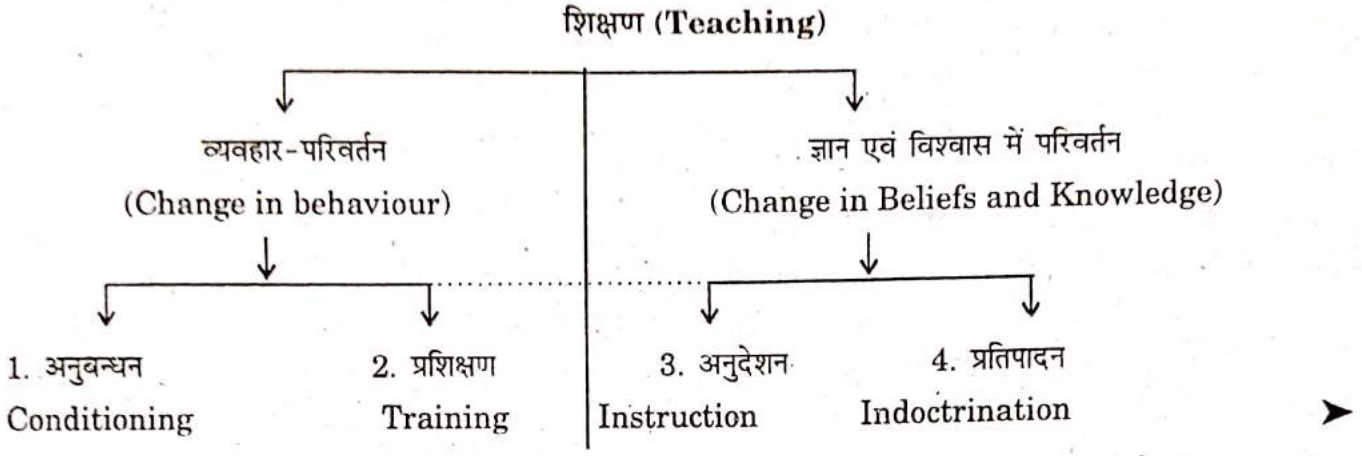

प्रश्न 8—शिक्षण सिद्धान्त, अधिगम सिद्धान्तों पर आधारित हो सकते हैं? व्याख्या कीजिये।

उत्तर— **शिक्षण सिद्धान्त, अधिगम सिद्धान्तों पर आधारित हो सकते हैं**

स्पष्टीकरण (Explaination)

आधुनिक विचारधारा शिक्षण सिद्धान्तों के प्रतिपादन को अधिक महत्त्व दे रही है क्योंकि अधिगम सिद्धान्त शिक्षण समस्याओं के समाधान में असफल रहे हैं। शिक्षण सिद्धान्त के अन्तर्गत स्वतन्त्र, आश्रित तथा हस्तक्षेप चरों से सह-सम्बन्ध की व्याख्या की जा सकती है। इस सम्बन्ध में **क्रॉनवेक** ने सात तत्त्वों का उल्लेख किया है तथा उनका विचार है कि अधिगम सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता है। शिक्षण की प्रमुख समस्यायें अधिगम को सुविधा प्रदान करने तथा उसे प्रभावित करने की हैं।

प्रथम तत्त्व : परिस्थिति (Situation)—इसके अन्तर्गत पाठ्य-वस्तु, शिक्षक तथा छात्र, अधिगम सहायक सामग्री तथा उद्देश्यों को सम्मिलित किया जाता है। अधिगम के स्थानान्तरण के लिये पाठ्य-वस्तु का विश्लेषण करके उसके तत्त्वों को एक क्रम में व्यवस्थित कर लिया जाता है। पाठ्यक्रम के नियोजन के समय विभिन्न परिस्थितियों का चयन किया जाता है तथा उन्हें एक क्रम में व्यवस्थित किया जाता है जिससे छात्र की अनुक्रियायें तत्कालीन तथा अन्तिम उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

द्वितीय तत्त्व : छात्रों की व्यक्तिगत विशेषताएँ (Personal Characteristics of Pupils)—प्रत्येक अधिगम परिस्थिति में छात्र की योग्यतायें तथा उनका व्यवहार-स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि शिक्षक उन्हीं योग्यताओं को ध्यान में रखकर शिक्षण का नियोजन तथा व्यवस्था करता है। यदि छात्र एक क्रिया को नहीं करना चाहता तो उसे दूसरी क्रिया करनी चाहिये। छात्रों के विकास के लिये व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान में रखना चाहिये। परिस्थिति छात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुरूप होनी चाहिये।

तृतीय तत्त्व : लक्ष्य (Goal)—शिक्षार्थी अपने प्रयासों का परिणाम चाहता है इसका सम्बन्ध छात्र के लक्ष्य (goal) से होता है परन्तु जटिल समस्या शिक्षण के लिये उस समय होती है जब छात्र के अनेक लक्ष्य होते हैं। शिक्षक का प्रयास होता है कि उन लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके। लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के लिये शिक्षक समुचित अभिप्रेरणा की व्यवस्था करता हैं जिससे छात्रों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है।

चतुर्थ तत्त्व : अर्थापन (Interpretation)—यह तत्त्व प्रथम तत्त्व परिस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करता है। छात्र के पूर्व अनुभव आगामी क्रियाओं की ओर संकेत करते हैं। भविष्य की क्रियाओं का सम्बन्ध अतीत की क्रियाओं से होता है। इस अर्थापन का सम्बन्ध 'लक्ष्य' से होता है। व्याख्या छात्रों को अतीत अनुभवों के आधार पर भविष्यवाणी के लिये अवसर देती है।

पंचम तत्त्व : क्रिया (Action)—इनमे छात्र का कथन निहित होता है। छात्र एक नवीन परिस्थिति की व्याख्या नहीं कर सकता है। वह सम्भावित रूप मे क्रिया करता है। जब सम्भावित क्रिया अनोखी होती है तब उसे सृजनात्मक क्रिया की संज्ञा दी जाती है। यदि छात्र समस्या का नया समाधान खोज लेता है तब उसे छात्र की मौलिकता कहते हैं।

षष्टम तत्त्व : परिणाम (Consequence)—जब छात्र अपनी क्रियाओं के परिणाम की अनुभूति करता है तब वह परिणाम आगामी व्यवहार को प्रभावित करता है। यदि वह अपने कार्य के परिणाम की अनुभूति नही कर पाता है या कार्य को गलत करता है तब अधिगम पर प्रभाव कम होता है। यदि उसकी व्याख्या विश्वसनीय नही होती है तब उसकी क्रियाओं को पुनर्बलन मिल भी सकता है अथवा नही भी मिल सकता है। शिक्षक को छात्र की सहायता करनी चाहिये जिससे कि वह अपने कार्यो के परिणामो का सही निरीक्षण कर सके।

सप्तम तत्त्व : भय के प्रति अनुक्रिया (Reaction to Thwarting)—यदि छात्र अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे असफल रहता है तब वह भयभीत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में दो भागों में से किसी एक को अपनाता है या तो अपने व्यवहार की क्रियाओं में परिवर्तन लाता है अथवा अपना लक्ष्य बदल देता है। ऐसी परिस्थिति में उसका अर्थापन बदल जाता है। जब छात्र तनाव की स्थिति में होता है। तब शिक्षक को ऐसी स्थिति में छात्र की सहायता लेनी चाहिये। असफलता के कारण का पता लगाना चाहिये या छात्र को पुन: व्याख्या करनी चाहिये।

ये अधिगम के सातों तत्त्व सामान्य रूप से शिक्षक की समस्याओं से सम्बन्धित हैं। **क्रॉनबैक** ने शिक्षक की प्रमुख समस्याओं में पाठ्यक्रम की व्याख्या, छात्रों को अभिप्रेरणा देना, छात्रों के कार्यों के मूल्यांकन तथा व्यक्तिगत भिन्नता का उल्लेख किया गया है। इन तत्त्वों की सहायता से शिक्षण-अधिगम में समन्वय करके समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। ➤

प्रश्न 9—शिक्षण अधिनियम, अधिगम के अधिनियमों पर आधारित है—हिलगार्ड। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—शिक्षण, अधिनियम, अधिगम के अधिनियमों पर आधारित हैं—इस कथन को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

शिक्षण की प्रक्रिया से अधिगम के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं। इन परिस्थितियों में छात्र अनुभव करते हैं जिससे उनके व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन होता है। **बर्टन** ने छात्रों की विशेषताओं की एक सूची तैयार करने में **हिलगार्ड** के अधिनियमों पर विचार किया। छात्रों में गुणों के विकास के हेतु अधिगम परिस्थितियों को निर्धारित किया गया है। शिक्षण में अधिगम परिस्थितियों का उपयोग किया जाता है। इन अधिगम परिस्थितियों को बर्टन का शिक्षण अधिनियम कहा जाता है।

बर्टन ने शिक्षण अधिनियमों के प्रतिपादन में छात्रों के गुणों के सन्दर्भ में अधिगम के नियमों तथा अधिगम परिस्थितियों की सहायता ली। इस प्रकार **छात्र के गुण**—बुद्धि, अभिप्रेरणा, आकाँक्षा स्तर, अभिवृत्ति, अधिगम परिस्थितियाँ तथा वास्तविक प्रत्यक्षीकरण को महत्त्व दिया। शिक्षण नियमों को निम्न तालिका में दिया गया है—

बर्टन के शिक्षण अधिनियम

छात्रों के गुण	शिक्षण के अधिनियम	
(अ) छात्र की बुद्धि	(1)	प्रतिभाशाली बालक उत्तम ढंग से पाठ्यवस्तु को सीखते हैं। मन्द बुद्धि बालक नहीं सीख पाते हैं।
(ब) छात्र की अभिप्रेरणा	(2)	अभिप्रेरित बालक अधिक तत्परता से सीखता है जबकि बिना अभिप्रेरणा के उतनी तत्परता से नहीं सीखता है।
	(3)	सामान्य अभिप्रेरणा; अधिक अभिप्रेरणा की अपेक्षा अधिगम की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली होता है। अधिगम से उनमें अन्तर किया जा सकता है।
	(4)	पुरस्कार तथा सफलता से छात्र सीखता है और दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है।
	(5)	बाह्य अभिप्रेरणा से आन्तरिक अभिप्रेरणा अधिक प्रयुक्त करनी चाहिए।

(स) आकाँक्षा स्तर	(6)	वास्तविक लक्ष्य के निर्धारण से छात्र अधिक अभ्यास स्वयं करता है। लक्ष्य अधिक ऊँचा अथवा नीचा नहीं होना चाहिए।
	(7)	असफलता की सहनशीलता सिखानी चाहिए और पुन: सफलता के लिए अथक् प्रयास करना चाहिए।
(द) छात्र की अभिवृत्ति	(8)	छात्र की शिक्षक के प्रति अभिवृत्ति छात्रों को सीखने में वृद्धि करती है जबकि नकारात्मक अभिवृत्ति सीखने में अवरोध उत्पन्न करती है।
	(9)	छात्र की सक्रिय भागेदारी अधिक प्रभावशाली होती है। निष्क्रिय भागीदारी सीखने को प्रभावशाली नहीं करती है।
(य) अधिगम परिस्थितियाँ	(10)	छात्र सार्थक पाठ्य-वस्तु तथा सार्थक कार्यों को शीघ्रता से सीख लेता है। निरर्थक पाठ्य-वस्तु नहीं सीख पाता है।
	(11)	अभ्यास एवं पुनरावृत्ति से अधिगम स्थायी होता है। यह सीखने की प्रभावशाली प्रविधि है।
	(12)	नवीन ज्ञान तथा पुराने ज्ञान के सह-सम्बन्ध से अधिगम के स्थानान्तरण में सहायता मिलती है।
	(13)	उत्तम अधिगम का स्थानान्तरण तब होता है जब छात्र स्वयं नवीन और पुराने ज्ञान में सम्बन्ध खोज लेता है।
	(14)	अधिगम की धारणा को प्रत्यास्मरण से प्रोत्साहित किया जाता है।
(र) छात्र का वास्तविक प्रत्यक्षीकरण	(15)	वास्तविक प्रत्यक्षीकरण के लिए अधिक से अधिक ज्ञानइन्द्रियों तथा कर्मइन्द्रियों को सक्रिय किया जाता है तब छात्रों को वास्तविक ज्ञान (true knowledge) होता है।
	(16)	दृश्य एवं श्रव्य इन्द्रियों को सक्रिय करने से पाठ्य-वस्तु अधिक रुचिकर तथा बोधगम्य होती है। छात्र रेडियो की अपेक्षा दूरदर्शन के कार्यक्रमों में अधिक रुचि लेते हैं।

प्रश्न 10—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) शिक्षण की संरचना या स्वरूप, (ii) शिक्षण के प्रकार।

उत्तर—

शिक्षण की संरचना या स्वरूप

शिक्षण की संरचना या स्वरूप से अभिप्राय है—सम्पूर्ण शिक्षण प्रक्रिया में विभिन्न क्रियाओं का होना। इन क्रियाओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है। ये वर्ग निम्नलिखित हैं—

(i) शिक्षण में संकेत और चिन्ह (Signs and Symbols in Teaching)—शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक संकेतों और चिन्हों का प्रयोग करता है। विद्यार्थी उनको समझते हैं और उनमें रुचि लेने लगते हैं। पाठ्यक्रम के प्रस्तुतीकरण और मूल्यांकन में इन संकेतों और चिन्हों का खूब प्रयोग होता है।

(ii) शिक्षण भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया के रूप में (Teaching as Linguistic Process)— शिक्षण प्रक्रिया में भाषा का प्रयोग होता है। बिना भाषा के शिक्षण संभव ही नहीं। शिक्षण भाषा-विज्ञान की ही प्रक्रिया है। भाषा के प्रयोग द्वारा ही शिक्षक निर्देशन प्रदान करता है। घटनाओं की व्याख्या करता है। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच भाषा के बिना अन्त:क्रिया असम्भव है।

(iii) शिक्षण एवं तर्क (Teaching and Logic)—शिक्षण की प्रक्रिया में संकेत, चिन्ह, भाषा तथा तर्क सभी कुछ सम्मिलित है। पाठ्यक्रम की लघु इकाइयों को क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत करने के लिये तर्क का सहायता लेनी पड़ती है। शिक्षण की क्रियाओं की व्यवस्था तर्कपूर्ण ढंग से ही जा सकती है। इसी प्रकार परीक्षा के लिये प्रश्नों के बारे में निर्णय भी तर्कपूर्ण ढंग से लिया जाता है।

शिक्षण के प्रकार

शिक्षण एक सामाजिक प्रक्रिया है। इस पर दार्शनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचारधारा का प्रभाव पड़ता है। अत: शिक्षण के अनेक उद्देश्य होते हैं। शिक्षण का विभाजन भी कई प्रकार से किया जाता है। प्रमुख विभाजन के आधार इस प्रकार हैं—

(1) शिक्षण के उद्देश्यों की दृष्टि से—शिक्षण के तीन प्रकार के उद्देश्य होते हैं। उनकी प्राप्ति के लिये विभिन्न प्रकार की शिक्षण क्रियाओ की व्यवस्था की जाती है—(i) ज्ञानात्मक शिक्षण, (ii) भावात्मक शिक्षण तथा (iii) क्रियात्मक शिक्षण।

(2) शिक्षण के स्तरों की दृष्टि से—शिक्षण एक सतत् प्रक्रिया मानी जाती है, जिसमे विचारहीन से अधिक विचारपूर्ण तक की क्रियाये की जाती है। इस क्रम को तीन स्तरों मे विभाजित किया गया है अथवा व्यवस्था तीन स्तर पर होती है—(i) स्मृति स्तर (ii) बोध स्तर तथा (iii) चिन्तन स्तर।

(3) शिक्षण की क्रियाओं की दृष्टि से—शिक्षण मे अनेक प्रकार की क्रियायें की जाती हैं, उन सभी क्रियाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते है—(i) प्रस्तुतीकरण (Telling), (ii) प्रदर्शन (Showing) तथा (iii) कार्य करना (Doing)।

(4) शासन के अनुसार शिक्षण के रूप—शिक्षण पर शासन प्रणाली का गहरा प्रभाव होता है। प्रत्येक शासन प्रणाली के अनुसार शिक्षण का रूप भी भिन्न होता है—(i) एक तान्त्रिक शिक्षण, (ii) प्रजातान्त्रिक शिक्षण, तथा (iii) हस्तक्षेप रहित शिक्षण।

(5) शिक्षण की व्यवस्था की दृष्टि से—शिक्षण की व्यवस्था निश्चित तथा अनिश्चित कार्यक्रमों के अनुसार की जाती है। अत: व्यवस्था की दृष्टि से शिक्षण के दो रूप होते हैं—(i) औपचारिक शिक्षण, तथा (ii) अनौपचारिक शिक्षण।

(6) शिक्षण के स्वरूप की दृष्टि से—शिक्षण छात्रों को नया ज्ञान प्रदान करने के लिये किया जाता है। इसके अतिरिक्त छात्रों को निदान के आधार पर उपचारात्मक शिक्षण भी किया जाता है। इस दृष्टि से शिक्षण दो प्रकार का होता है—(i) वर्णनात्मक शिक्षण (Descriptive Teaching), तथा (ii) उपचारात्मक शिक्षण (Remedial Teaching)।

प्रयोगात्मक कार्य [PRACTICAL WORK]

1 पाठ योजना एवं अध्यापन अभ्यास

[LESSON PLAN AND TEACHING PRACTICE]

पाठ योजना-1

नाम.....

कक्षा—एल० के० जी०

विषय—हिन्दी (अक्षर ज्ञान)

कालांश—1

दिनांक .....

स्कूल का नाम.....

वर्ग.....'B'

प्रकरण—'दो अक्षरों का मेल'

समय—20 मिनट

सामान्य उद्देश्य

(i) छात्रों को शब्दों का उपयोग करने की कुशलता प्रदान करना।

(ii) छात्रों में हिन्दी भाषा शुद्ध रूप से बोलने, पढ़ने तथा लिखने की क्षमता पैदा करना।

(iii) छात्रों में हिन्दी भाषा में दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को शुद्ध रूप में व्यवहार करने का ज्ञान देना।

(iv) छात्रों में हिन्दी भाषा में विचार अभिव्यक्त करने तथा समझने की योग्यता विकसित करना।

(v) छात्रों में सरल, स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक भाषा में अपने भाव अभिव्यक्त करने की क्षमता विकसित करना।

(vi) शब्दों तथा वाक्यों के अभ्यास द्वारा छात्रों को हिन्दी भाषा में निपुण करना।

विशिष्ट उद्देश्य

छात्रों को दो अक्षरों के मेल विषय में जानकारी देना।

पूर्व ज्ञान–छात्रों को अ से ज्ञ तक सभी अक्षरों का लिखित तथा मौखिक ज्ञान प्राप्त है।

सहायक सामग्री–श्यामपट्ट, चाक, डस्टर, संकेतक तथा चित्र आदि।

प्रस्तावना प्रश्न–छात्राध्यापिका, छात्रों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ प्रश्न पूछेगी।

प्रश्न 1—छात्र स्कूल में क्या करते हैं ?

उत्तर–छात्र स्कूल में पढ़ते हैं।

प्रश्न 2—छात्र स्कूल से छुट्टी के बाद कहाँ जाते हैं ?

उत्तर–छात्र स्कूल से छुट्टी के बाद अपने-अपने 'घर' जाते हैं।

प्रश्न 3—'घर' कितने अक्षरों से मिलकर बना है ?

उत्तर–'घर' दो अक्षरों से मिलकर बना है।

उद्देश्य कथन–आज हम दो अक्षरों के मेल से बने शब्दों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

प्रस्तुतीकरण–छात्राध्यापिका छात्रों से कुछ प्रश्न पूछेगी।

1. र + थ = रथ
2. थ + न = थन
3. म + न = मन
4. ज + ल = जल
5. क + ब = कब

बोधात्मक प्रश्न–छात्राध्यापिका छात्रों को प्रकरण सम्बन्धी कुछ अक्षरों का ज्ञान प्रदान करेगी।

प्रश्न 1—घ + र जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–घ + र जोड़ने से घर बनता है।

प्रश्न 2—स + ब जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–स + ब जोड़ने से सब बनता है।

प्रश्न 3—न + ल जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–न + ल जोड़ने से नल बनता है।

प्रश्न 4—ब + स जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–ब + स जोड़ने से बस बनता है।

पुनरावृत्ति

छात्राध्यापिका छात्रों से पुन: प्रकरण सम्बन्धी प्रश्न पूछेगी।

प्रश्न 1—अ + ब जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–अ + ब जोड़ने से अब बनता है।

प्रश्न 2—क + ब जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–क + ब जोड़ने से कब बनता है।

प्रश्न 3—क + म जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–क + म जोड़ने से कम बनता है।

प्रश्न 4—म + त जोड़ने से क्या बनता है ?

उत्तर–म + त जोड़ने से मत बनता है।

श्यामपट्ट कार्य–छात्राध्यापिका छात्रों से पूछकर कुछ कठिन शब्द श्यामपट्ट पर लिखेगी।

1. ध + न = धन
2. क + ल = कल
3. ज + ब = जब
4. ल + त = लत
5. न + र = नर

कक्षा कार्य–छात्राध्यापिका छात्रों से श्यामपट्ट पर लिखे कठिन शब्दों को अपनी-अपनी उत्तर पुस्तिका पर लिखने को कहेगी।

निरीक्षण कार्य–जब सभी छात्र लिख रहे होंगे तब छात्राध्यापिका इस बात का निरीक्षण करेगी कि सभी छात्र दिए गए कार्य को अपनी-अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर ठीक-ठीक उतारें।

गृह-कार्य–छात्राध्यापिका निम्न शब्दों को छात्रों को याद करने तथा लिखकर लाने को कहेगी—फल, अब, नभ, सर। ➤

पाठ योजना-2

नाम .....

कक्षा— 3rd

विषय—सामाजिक अध्ययन

कालांश—5th

दिनांक .....

स्कूल का नाम .....

वर्ग—'B'

प्रकरण—हमारा राष्ट्रीय ध्वज

समय—35 मिनट

सामान्य उद्देश्य

(i) छात्रों मे राष्ट्रीयता, सामाजिकता, नागरिकता के कर्त्तव्यों को समझने की योग्यता का विकास करना।
(ii) छात्रों में एक-दूसरे के प्रति अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को समझने की अनुकूल शक्तियों का विकास करना।
(iii) छात्रों में श्रेष्ठ नागरिक बनने के गुणों का विकास करना। उनमें अनुकूल व्यवहार करने की योग्यता तथा शक्तियों को विकसित करना।
(iv) छात्रों में सामाजिक नियमों; सिद्धान्तों तथा कर्त्तव्यों को समझने की योग्यता का विकास करना।
(v) छात्रों में नागरिकशास्त्र के नियमों का विकास करना।
(vi) छात्रों में नागरिक जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करने की योग्यता का विकास करना।
(vii) छात्रों को ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की विभिन्न दशाओं तथा वास्तविक लाभों से परिचित कराना।

विशिष्ट उद्देश्य

छात्रों को हमारे देश के राष्ट्रीय ध्वज के बारे में जानकारी देना।

पूर्व ज्ञान–छात्र भारत के राष्ट्रीय ध्वज के बारे में सामान्य जानकारी रखते हैं।

सहायक सामग्री–चार्ट, श्यामपट्ट, चाक, डस्टर तथा संकेतक आदि।

प्रस्तावना प्रश्न–छात्राध्यापिका छात्रों का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रकरण सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछेगी।

प्रश्न 1—हमारे राष्ट्रीय त्यौहार (पर्व) कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर–हमारे राष्ट्रीय त्यौहार 26 जनवरी तथा 15 अगस्त हैं।

प्रश्न 2—इन त्यौहारों पर क्या होता है ?

उत्तर–इन त्यौहारों पर देश का झण्डा फहराया जाता है।

प्रश्न 3—यह झण्डा क्या कहलाता है ?

उत्तर–यह झण्डा राष्ट्रीय ध्वज कहलाता है।

उद्देश्य कथन–आज हम नागरिकशास्त्र विषय के अन्तर्गत भारत के राष्ट्रीय ध्वज के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

प्रस्तुतीकरण–हमारे देश में प्रतिवर्ष 26 जनवरी तथा 15 अगस्त को राष्ट्रीय पर्व मनाया जाता है। 15 अगस्त तथा 26 जनवरी को हमारे देश के प्रत्येक स्कूल में राष्ट्रीय ध्वज (तिरंगा झण्डा) फहराया जाता है। इस ध्वज की लम्बाई इसकी चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक है।

हमारे राष्ट्रीय ध्वज (तिरंगे झण्डे) में केसरिया, सफेद तथा हरे रंग की तीन पट्टियाँ हैं। तीनों पट्टियाँ बराबर चौड़ाई की होती हैं। ऊपर केसरिया रंग की, बीच में सफेद रंग की तथा नीचे हरे रंग की पट्टी होती है। केसरिया रंग साहस, वीरता तथा बलिदान का प्रतीक है। सफेद रंग शान्ति, सच्चाई तथा शुद्धता का प्रतीक है जबकि हरा रंग सुख तथा सम्पन्नता का प्रतीक है। सफेद रंग की पट्टी में ठीक बीच में एक नीले रंग का चक्र है इसे अशोक चक्र कहते हैं। इस चक्र में 24 तीलियाँ हैं। यह चक्र हमें सदा आगे बढ़ना सिखाता है। राष्ट्र ध्वज का सम्मान सारे राष्ट्र का सम्मान है।

बोधात्मक प्रश्न–छात्राध्यापिका छात्रो से प्रकरण सम्बन्धी कुछ निम्न प्रश्न पूछेगी—

प्रश्न 1—हमारे राष्ट्रीय पर्व कौन-कौन से हैं ?

उत्तर–हमारे राष्ट्रीय पर्व 26 जनवरी तथा 15 अगस्त है।

प्रश्न 2—हमारे राष्ट्रीय ध्वज में कितने तथा कौन-कौन से रंग हैं ?

उत्तर–हमारे राष्ट्रीय ध्वज में तीन रंग हैं। केसरिया, सफेद तथा हरा।

प्रश्न 3—तिरंगा झण्डा क्या कहलाता है ?

उत्तर–तिरंगा झण्डा राष्ट्रीय ध्वज कहलाता है।

पुनरावृत्ति प्रश्न–छात्राध्यापिका छात्रों से पुन: प्रकरण सम्बन्धित प्रश्न पूछेगी।

प्रश्न 1—तिरंगे झण्डे की लम्बाई, चौड़ाई से कितनी अधिक होती है ?

उत्तर–तिरंगे झण्डे की लम्बाई चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक होती है।

प्रश्न 2—चक्र में कितनी तीलियाँ होती हैं ?

उत्तर–चक्र में 24 तीलियाँ होती हैं।

प्रश्न 3—राष्ट्रीय ध्वज फहराते समय हमें किस मुद्रा में खड़ा होना चाहिए ?

उत्तर–राष्ट्रीय ध्वज फहराते समय हमें सावधान की मुद्रा में खड़ा होना चाहिए।

श्यामपट्ट कार्य–छात्राध्यापिका छात्रों से पूछकर श्यामपट्ट पर कुछ प्रश्न लिखेगी।

प्रश्न 1—राष्ट्रीय ध्वज के तीनों रंग किस बात के सूचक हैं ?

उत्तर–केसरिया रंग साहस, वीरता तथा बलिदान का प्रतीक है। सफेद रंग शान्ति, सच्चाई तथा शुद्धता का प्रतीक है। हरा रंग सुख तथा सम्पन्नता का प्रतीक है।

प्रश्न 2—नीला चक्र राष्ट्रीय ध्वज में कहाँ स्थित है ?

उत्तर–राष्ट्रीय ध्वज में नीला चक्र सफेद रंग की पट्टी के ठीक बीचों बीच स्थित है।

प्रश्न 3—नीले रंग का चक्र कहाँ से लिया गया है ?

उत्तर–नीले रंग का चक्र अशोक स्तम्भ से लिया गया है।

कक्षा कार्य–छात्राध्यापिका छात्रों से श्यामपट्ट पर लिखे प्रश्नों को अपनी उत्तर-पुस्तिका में लिखने को कहेगी।

निरीक्षण कार्य–जब सभी छात्र लिख रहे होंगे तो छात्राध्यापिका इस बात का निरीक्षण करेगी कि सभी छात्र सही-सही अपनी-अपनी अभ्यास-पुस्तिका पर उतारें।

गृह-कार्य–छात्राध्यापिका छात्रों को श्यामपट्ट पर लिखे प्रश्नों को घर से लिखकर लाने को कहेगी। ➤

पाठ योजना-3

नाम— .....
स्कूल का नाम .....

कक्षा—नर्सरी
वर्ग—'B'

विषय—गणित
प्रकरण—21 से 30 तक की गिनती का लिखित ज्ञान

कालांश—5th
समय—20 मिनट

दिनांक— .....

सामान्य उद्देश्य

(i) गणित के माध्यम से छात्रों को संसार की विभिन्न वस्तुओं तथा पदार्थों से अवगत कराना।
(ii) छात्रों में गणित को समझने तथा सीखने की रुचि का विकास करना।
(iii) छात्रो मे मानसिक विकास द्वारा निरीक्षण तथा तर्क शक्ति का विकास करना।
(iv) छात्रों में गणित शिक्षण द्वारा दैनिक व्यावहारिक जीवन का विकास करना।
(v) छात्रो मे गणित शिक्षण द्वारा गणित की विधियों तथा सिद्धान्तों को समझाना एवं उपयोग करने की क्षमता का विकास करना।

विशिष्ट उद्देश्य

छात्रों को 21 से 30 तक की गिनती का लिखित रूप से ज्ञान प्रदान करना।

पूर्व ज्ञान–छात्रों को 1 से 20 तक की गिनती मौखिक तथा लिखित रूप से आती हैं।

सहायक सामग्री–चॉक, श्यामपट्ट, डस्टर, संकेतक, चित्र आदि।

प्रस्तावना प्रश्न–छात्राध्यापिका छात्रों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ प्रश्न पूछेगी।

प्रश्न 1—ये कितने सिक्के हैं (चार्ट दिखाकर)?

उत्तर–ये 20 सिक्के हैं।

प्रश्न 2—20 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–2 के आगे 0 लगाने पर 20 आता है।

प्रश्न 3—20 के बाद क्या आता है ?

उत्तर–20 के बाद 21 आता है।

उद्देश्य कथन–आज हम गणित विषय के अन्तर्गत 21 से 30 तक की गिनती का लिखित ज्ञान प्राप्त करेंगे।

प्रस्तुतीकरण–छात्राध्यापिका गिनतियों से सम्बन्धित चार्ट दिखाकर सरल विधि (देखो, गिनो, लिखो) द्वारा गिनतियों का लिखित ज्ञान प्रदान करेगी।

21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28, 29, 30।

बोधात्मक प्रश्न–छात्राध्यापिका छात्रों से प्रकरण सम्बन्धी प्रश्न पूछेगी।

प्रश्न 1—21 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–21 लिखने के लिए 2 लिखने के बाद 1 लिखकर दोनों को मिला देते हैं।

प्रश्न 2—23 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–23 लिखने के लिए 2 लिखने के बाद 3 लिखकर दोनों को मिला देते हैं।

प्रश्न 3—25 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–25 लिखने के लिए 2 लिखने के बाद 5 लिखकर दोनों को मिला देते हैं।

पुनरावृत्ति प्रश्न–छात्राध्यापिका पुन: प्रकरण से सम्बन्धित प्रश्न छात्रों से पूछेगी।

प्रश्न 1—22 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–22 लिखने के लिए 2 लिखने के बाद पुन: 2 लिखकर दोनों को मिला देते हैं।

प्रश्न 2—24 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–24 लिखने के लिए 2 लिखने के बाद 4 लिखकर दोनों को मिला देते हैं।

प्रश्न 3—26 कैसे लिखा जाता है ?

उत्तर–26 लिखने के लिए 2 लिखने के बाद 6 लिखकर दोनों को मिला देते हैं।

गृह-कार्य–छात्राध्यापिका छात्रों को घर से 21 से 30 तक गिनती लिखकर लाने के लिए कहेगी।

LESSON PLAN—4

Name—.....
Class—Nursery
Subject—Mathematics
Period—4th
Date—.....

Name of the Institution —.....
Section—'C'
Topic—Counting Number from 1-9
Time—30 Minutes

General Objectives

1. To develop the knowledge of counting numbers among the students.
2. To develop the concept of counting among the students.
3. To develop the abilities to count the objects.
4. To develop the interest of mathematics among the students.
5. To develop the observation and reasoning power among the students.

Specific Aim

To develop the concept of counting number and counting among the students (1-9).

Previous knowledge

The students know the counting orally.

Material Aid—Black-board, chalk, duster, pointer and chart.

Introduction

The teacher will draw the objects on the black-board and then count them and write the numbers.

Activity Introductry Questions

Q. 1. How many objects are there ?

Ans. The students will count and tell the number.

Presentation—The teacher will teach the counting numbers from 1-9 with the help of chart and with the objects draw on the black-board.

Development Questions

Showing written counting numbers—

Q. 1. What is this number 1 ?

Ans. 1 one.

Q. 2. What is this number 2 ?

Ans. 2 two.

Q. 3. What is this number 3 ?

Ans. 3 three.

Q. 4. What is this number 4 ?

Ans. 4 Four.

Q. 5. What is this number 5 ?

Ans. 5 Five.

Q. 6. What is this number 6 ?

Ans. 6 Six.

Q. 7. What is this number 7 ?

Ans. 7 Seven.

Q. 8. What is this number 8 ?

Ans. 8 Eight.

Q. 9. What is this number 9 ?

Ans. 9 Nine.

Recapitulation

The teacher will ask the recapitulative questions like—

(i) What comes after 1 ?

(ii) What comes after 4 ?

Black-board work

The teacher will write the numbers on the black-board and students will read about in sequence.

Classroom work

The teacher will hear the counting numbers.

Assignment—The teacher will ask the students to learn the counting numbers from 1-9 at home.

2 कला और शिल्प व अन्य फाइलें

[ART AND CRAFT AND OTHER FILES]

(1) हस्त कला/हस्त कौशल

कला का आधार कल्पना होने के कारण चित्रकार कल्पना के आधार पर प्रकृति चित्रण करता है। उसकी गति तथा कार्य का अन्त यहीं नही होता। जब कला में व्यावसायिकता सम्मिलित हो जाती है, तो वह हस्त-कौशल अथवा शिल्प बन जाता है। जब कवि आत्म-सन्तुष्टि के लिये काव्य की रचना करता है, नृत्यकार नृत्य करता है एवं संगीतकार संगीत द्वारा आत्म-सन्तुष्टि प्राप्त करता है। परन्तु जब कवि कविताएँ लिखकर धनोपार्जन करने लगे, नृत्यकार नृत्य द्वारा धन कमाने लगे तथा संगीतकार अपना संगीत बेचने लगे, तो कला में व्यवसाय सम्मिलित हो जायेगा और वह कला होते हुए भी शिल्प का रूप धारण कर लेगी। चित्रकार भी व्यावसायिकता की उपयोगिता के जाल में फँस कर शिल्पी बन जायेगा। अत: हस्त-कौशल का अर्थ इस प्रकार है—

"अप्रस्तुत सामग्री से निश्चित रूप और आकार वाली वस्तु को निर्धारित लक्ष्य के आधार पर उपयोगी बनाना ही शिल्प या हस्त-कौशल कहलाता है।"

अत: हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है, जिसके द्वारा मनुष्य या बालक में हस्त-कौशल का विकास तथा ज्ञान कराया जाता है अर्थात् हस्त-कौशल शिक्षा बालकों में अभ्यास के ज्ञान (Practical Knowledge) का सम्वर्द्धन करती है और ऐसे गुणों को विकसित करती है, जिससे बालकों में हस्त-कौशल का विकास हो सके।

"किसी वस्तु को हाथ से निर्माण कर उसमें सुन्दरता, सजीवता एवं उपयोगिता उत्पन्न करने की क्रिया को हस्त-कौशल या हस्त कला या शिल्प कला (Craft) कहते हैं।"

किसी नयी तथा फटी-पुरानी वस्तु को हाथ द्वारा काट-छाँटकर, साफकर एवं कसकर बाँधते हुए विषय-सामग्री के अनुसार कला द्वारा अलंकृत कर उसमें सजीवता, सुन्दरता तथा उपयोगिता उत्पन्न कर पूर्ण करने की क्रिया ही हस्त-कौशल कहलाती है। चित्रकला शिक्षण में हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का विकास हम निम्नलिखित क्रिया-कलापों के माध्यम से कर सकते हैं।

1. कागज के कार्य द्वारा—इस क्रिया में कागज रँगना, अबरी का निर्माण, कागज मोड़ना, कागज काटना तथा कागज चिपकाना आदि क्रियाएँ आती हैं। कागज रँगने की विविध कलाओं में स्प्रे, स्टेन्सिल छपाई तथा रंग में डुबोना आदि क्रियायें आती हैं। इनके माध्यम से बालकों को रंगों का ज्ञान एवं रँगाई के उद्देश्यों की जानकारी दी जाती है चित्रकला में ये सभी क्रियाएँ बहुत-ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। कागज काटने, मोड़ने और चिपकाने की क्रियाओं द्वारा विविध प्रकार की वस्तुएँ; जैसे—फाइलें, पैड, लिफाफे थैले, फूल तथा बेलें आदि वस्तुएँ बनायी जाती हैं। जो हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का सबसे उत्तम माध्यम अथवा क्रिया-कलाप है। उदाहरण के लिए कॉपियाँ बनाना, मॉडल का निर्माण तथा जिल्दें बाँधना आदि।

चित्रकला में गत्ते के कार्य द्वारा हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का विकास किया जा सकता है। मुलायम अथवा कड़े गत्ते को खुरचकर, मोड़कर और काटकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के प्रतिरूप; जैसे—डिब्बों, बॉक्स, तस्तरी, खोल तथा फाइलें आदि बनाये जा सकते हैं।

2. मिट्टी के कार्य द्वारा—हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का विकास मिट्टी के कार्य द्वारा आसानी से किया जा सकता है, क्योंकि मिट्टी के माध्यम से अनेक प्रकार के चित्र, मॉडल तथा बर्तन आदि बनाये जा सकते हैं, साथ ही इन पर रंगों द्वारा चित्रकारी करके बालकों को हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा दी जा सकती है।

3. चर्म कार्य द्वारा—चित्रकला शिक्षण में चर्म कार्य भी हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। चर्म द्वारा विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुएँ बनायी जाती हैं, जिसमें पर्स, बैग, पेटी आदि मुख्य हैं जिनको विभिन्न रंगों तथा आलेखनों द्वारा सजाया जाता है। इनमें हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का विकास किया जाता है। चमड़ा मूल्यवान होने के कारण इस प्रकार की शिक्षा उच्च कक्षाओं में प्रदान की जाती है।

4. लकड़ी एवं धातु के कार्य द्वारा—चित्रकला शिक्षण मे काष्ठ-शिल्प की क्रियाओं द्वारा हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का विकास किया जाता है, क्योंकि लकड़ी मेज, कुर्सी, तस्तरी, ट्रे, बुक स्टेण्ड, सन्दूक, अलमारी, खेल-खिलौनों का सामान तथा अनेक प्रकार के मॉडल आदि बनाये जाते हैं, जिससे हस्तकला का विकास होता है। कक्षा मे इन कार्यों की शिक्षा देकर हस्त-कौशल विकसित किया जा सकता है।

धातुओं के द्वारा हस्त-कौशल केन्द्रित शिक्षा का शिक्षण बालकों को दिया जाता है, क्योंकि इसके माध्यम से विभिन्न प्रकार के बर्तन एवं वस्तुएँ बनायी जाती हैं एवं उन पर चित्रकारी की जाती है, जिससे बालकों में हस्त-कौशल विकसित होता है। लेकिन चित्रकला में यह शिक्षण प्राथमिक स्तर पर अधिक उपयोगी नहीं है।

चित्रकला शिक्षण में आलेखनों के अतिरिक्त कपड़े काटने, छाँटने, काढ़ने एवं बुनने आदि की क्रियाओं द्वारा हस्त-कौशल विकसित किया जा सकता है। यह शिक्षण बालकों के लिये बहुत उपयोगी होता है। इसके माध्यम से बालकों में व्यावसायिकता विकसित होती है।

(2) हस्त कला से सम्बन्धित मिट्टी का कार्य

घरेलू उद्योग-धन्धे के कामों में मिट्टी का काम भी एक उद्योग है। बालकों की रचनात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत करने एवं सरल रूप से भाव प्रकाशन करने के लिए मिट्टी का काम बच्चों को बड़ा प्रिय होता है। मिट्टी से खेलने वाले बालक खेलते-खेलते ही खिलौने बनाने लगते हैं। खिलौनों का धन्धा भी संसार में बड़ा विकसित हो चुका है।

मिट्टी के कार्य के लिए बालक को अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है।

मिट्टी—सिलिका और ऐल्यूमिनियम के ऑक्साइड से मिलकर बनी हुई किसी-किसी मिट्टी में लोहा, चूना तथा बेरियम आदि भी अधिकतर मिले रहते हैं। इससे मिट्टी में तरह-तरह के रंग और चिकनाहट पायी जाती है।

उपयोगी मिट्टी—मिट्टी कई प्रकार की होती है—काली, पीली, बलुई, लाल, दुमट आदि। किन्तु बर्तन, खिलौने आदि बनाने के काम में चिकनी और काली मिट्टी ही प्रयोग की जाती है। यह लसदार तथा मुलायम होती है और इसमें रेत का अंश नहीं रहता है। इससे बर्तन चटकते नहीं हैं।

मिट्टी तैयार करने की विधि

(1) उपयुक्त मिट्टी लाकर उसे धूप में सुखा लेते हैं। बाद में उसे डण्डे से कूटकर कंकड़ आदि साफ कर लेते हैं।

(2) सूखी मिट्टी पानी में डालकर गला देते हैं और रात भर गलने देते हैं। इसे गूँथ कर ठीक कर लिया जाता है। यदि अधिक मिट्टी तैयार करनी हो, तो नाँदों का प्रयोग करते हैं। ऊपर वाली दोनों नाँदों के पैंदे में सूराख कर दिये जाते हैं। सबसे नीचे वाली में सूराख नहीं करते हैं। ऊपर वाली नाँद में मिट्टी गला दी जाती है और पानी भर देते हैं। मिट्टी इससे निकल कर नीचे की नाँद में जाती रहती है। कंकड़ ऊपर वाली नाँद में रह जाते हैं। इसी प्रकार दूसरी नाँद से तीसरी नाँद में बिल्कुल साफ मिट्टी छनकर निकल जाती है। इसको धूप में सुखा लिया जाता है। जमीन में गड्ढ़ा खोदकर इस मिट्टी को भर देते हैं। पानी को जमीन सोख लेती है। मिट्टी खुश्क और सख्त होने लगती है इस तैयार की हुई मिट्टी को काम में लिया जाता है।

अच्छी मिट्टी की पहचान

(1) तैयार मिट्टी को पट्टी बनाकर ऊँगली पर लेपट कर देखा जाता है कि मिट्टी चिकनी एवं उपयुक्त है तो उसमें किसी प्रकार की चटख नहीं पड़ेगी और चिकनाहट प्रतीत होगी तथा ऊँगली से चिपकेगी नहीं।

(2) मिट्टी का गोला बनाकर बार-बार उछालकर देखा जाये, उसमें दरार न पड़े।

(3) मिट्टी मोम की तरह मुलायम होनी चाहिए।

(4) तैयार मिट्टी को थोड़ा सुखा लिया जाये फिर इसमें से थोड़ा-सा भाग पानी में डालकर देखा जाये, यदि एकदम पानी में नहीं घुलती है तो ठीक है।

(5) तैयार मिट्टी को किसी बर्तन में या गड्ढे में गीले कपड़े में ढककर रखना चाहिए।

(3) मिट्टी के कार्य में प्रयुक्त होने वाले औजार

मिट्टी के कार्य के लिए हाथ की उँगलियाँ ही मुख्य औजार हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य सामान की आवश्यकता पड़ती हैं—

(1) तारो की चलनी, (2) पटरा, (3) लकड़ी की मोगरी, (4) मिट्टी की नाँद, (5) छोटे-छोटे प्याले, (6) घड़ा, (7) लोहे का तसला, (8) चाक, (9) ब्रश, (10) बैलगाड़ी।

1. तारों की चलनी—तारो की चलनी मिट्टी छानने के काम आती है। इसका फ्रेम लकड़ी का बना होता है तथा निचले हिस्से में तारों की जाली लगी रहती है।

2. पटरा—पटरे पर रख कर मिट्टी को पीटा जाता है जिससे वह एक समतल सतह में हो जाये। यह लकड़ी का बना होता है।

3. लकड़ी की मोगरी—यह मिट्टी महीन करने के काम आती है तथा इससे मिट्टी की पर्त भी बनायी जाती है।

4. मिट्टी की नाँद—मिट्टी की नाँद में मिट्टी सानी जाती है।

5. छोटे-छोटे प्याले—ये प्याले मिट्टी के खिलौने आदि पर रंग करते समय काम आते हैं। इन प्यालों में ब्रश साफ करने के लिए पानी भर कर रखा जाता है।

6. घड़ा—मिट्टी का कार्य करने के लिए पानी की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए घड़े में पानी भरकर अपने पास ही रखा जाता है।

7. लोहे का तसला—यह मिट्टी गूँथने के काम आता है।

8. चाक—मिट्टी के बर्तन, जैसे; सकोरे आदि चाक पर ही बनाये जा सकते हैं। यह पत्थर का चक्र होता है, जो अपनी कीली पर घूमता है। इसके ऊपर मिट्टी का लोंदा जमाकर रखा जाता है तथा चाक को डण्डे की सहायता से घुमाया जाता है और उँगलियों की सहायता से बर्तन बनाये जाते हैं।

9. मिट्टी के खिलौनों पर रंग करने के लिए ब्रश का प्रयोग किया जाता है।

(4) ठोस मिट्टी से बर्तन बनाना

5 सेण्टीमीटर से 15 सेण्टीमीटर तक के बर्तन ठोस विधि द्वारा बनाये जाते हैं। इस प्रणाली से पैंदा तथा गर्दन के अतिरिक्त शेष भाग पहले से ही ठोस बना लिया जाता है। किसी भरे हुए तार या कील आदि से ठोस पिण्ड को गीला कर लेते हैं। इसके बाद उसमें पेंदी, गर्दन, मुँह तथा हैंडिल आदि जोड़ देते हैं। इस प्रणाली से फूलदान, दवात, पेपरवेट, कलमदान आदि बनाये जाते हैं।

अँगूठे तथा उँगलियों से बर्तन बनाना

इस विधि से 5 सेण्टीमीटर से छोटे मॉडल बनाये जाते हैं। अँगूठे तथा उँगलियों से मिट्टी को एक-सा फैलाकर वस्तु की शक्ल बनानी पड़ती है। यह मिट्टी के काम का मुख्य तरीका है। इससे वस्तु में सौन्दर्य पैदा किया जा सकता है।

उपरोक्त विधियों के अतिरिक्त एक विधि और भी है जिसके प्रयोग में विशेष सावधानी और अभ्यास की आवश्यकता है।

साँचे द्वारा मिट्टी के मॉडल बनाना

साधारण बर्तन, घड़े या गमले आदि का आधा-हिस्सा लेकर उसको साँचे से बनाते हैं। जिस बर्तन को बनाना हो उसे साँचे के अन्दर वाले भाग में राख लगा दी जाती है और उसके ऊपर मिट्टी की पतली तह जमा दी जाती है। बाद में उसे साँचे से पृथक् कर लिया जाता है।

मिट्टी को साँचे में इस प्रकार दबाना चाहिए ताकि मिट्टी की सतह अच्छी तरह चिपक जाये। बर्तन तैयार हो जाने पर निकलती हुई मिट्टी को छीलकर पानी के हाथ से एक-सा कर लिया जाता है।

बर्तनों के ऊपर सजावट करना

1. खोदकर डिजाइन बनाना—बर्तन पर किसी वस्तु से डिजाइन अंकित कर ली जाती है। तेज चाकू या कील से खोदकर डिजाइन निकाली जाती है।

2. भरकर डिजाइन बनाना—बर्तन पर पहले खोदकर डिजाइन बनाते हैं। बाद में दूसरे रंग की मिट्टी पकाने से पहले लगाते हैं और सुनहरी रंग आदि पकाने के पश्चात् लगाते हैं।

3. उभारदार डिजाइन बनाना—ये तीन प्रकार के होते हैं—(क) नीचे उभारदार, (ख) बीच में उभारदार, (ग) ऊँचे उभारदार।

चित्र—बर्तन पर रंग करना।

इस तरीके में कागज पर कॉपिंग पेन्सिल से कोई डिजाइन बनाकर उस कागज को बर्तन पर चिपका दिया जाता है, डिजाइन अंकित हो जाती है। बाद में इन डिजाइनों को कुछ दबाकर या कुछ मिट्टी लगाकर डिजाइन उकेरी (उभारी) जाती है।

पके बर्तनों पर लगाने के रंग

(क) पीला—रामरज, पेपड़ी और हरताल।

(ख) लाल—हिरमिच, गेरू, सिन्दूर, टेसू के फूल तथा चूना मिलाकर बनाते हैं।

(ग) नीला—तूतिया, नील और लाजवर्दी से बनाया जाता है।

(5) मिट्टी के खिलौने तथा मॉडल बनाना

मिट्टी के खिलौने-बनाने के लिए पहले मिट्टी तैयार की जाती है। इसके लिए मिट्टी के बड़े-बड़े ढेलों को पीसकर बारीक कर लेते हैं तथा फिर उसे पानी में भिगो देते हैं। पानी में भिगोने पर मिट्टी गल जाती है। उसमें महीन मिट्टी मिलाकर आटे की तरह गूँथ लेते हैं। इस प्रकार यह मिट्टी खिलौने बनाने के लिए तैयार हो जाती है। खिलौने बनाने के लिए जो मिट्टी तैयार की जाती है, वह अच्छी होनी चाहिए। इसकी जाँच के लिए यदि हम मिट्टी की गोली बनाकर उसे दबायें तो वह मोम की तरह दब जायेगी, इससे यह समझना चाहिए कि मिट्टी अच्छी है।

तैयार मिट्टी से हम अपनी इच्छानुसार जो भी आकृति बनाना चाहें उसे बना सकते हैं। इसके लिए हम किसी पहले बनी हुई आकृति का उपयोग कर सकते हैं या फिर प्रशिक्षक के मार्ग-दर्शन में यह कार्य किया जा सकता है इसके लिए साँचों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

जब खिलौने तैयार हो जाते हैं तो इन्हें सुरक्षित एवं छायादार स्थान पर सुखाने चाहिए। यह ध्यान रखें कि रखते समय खिलौना टेढ़ा न हो जाए और मिट्टी के खिलौने को सीधे ही धूप में नहीं सुखाना चाहिए। पहले जब वह छाया में थोड़ा सूख जाये तभी धूप में रखना चाहिए अन्यथा खिलौनों के टूटने या फटने का भय रहता है। सूखने के बाद खिलौने पर हल्के हाथ से सफाई करनी चाहिए। सफाई करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इस समय इसका कोई भाग या अंग टूट न जाये, अब इस पर रंग किया जाता है।

रंग करने की विधि—खिलौने को सुन्दर एवं आकर्षक बनाने के लिए उस पर रंग करना आवश्यक है। खिलौने को रँगने के लिए खड़िया मिट्टी, बबूल का गोंद और पानी मिलाकर घोल तैयार कर लेते हैं। घोल तैयार करने के लिए खड़िया मिट्टी में थोड़ा पानी मिलाया, जिससे आटे की तरह गूँथा जा सके। अब इस पर पानी के छींटे मारते हुए मोगरी से कूटते जाइये। लगभग डेढ़-दो घण्टे बाद यह बहुत बारीक और गूँथे आटे जैसी हो जायेगी, तब इसमें और पानी मिलाकर सफेदी के घोल जैसा बना लीजिए। फिर एक-एक करके खिलौने को इस घोल में डूबाकर निकालें। जब घोल की एक परत सूख जाये तब पुनः घोल में से निकालें दूसरी परत सूखने पर घोल की तीसरी परत चढ़ाइये और धूप में सूखने को रख दीजिए। सूखने के बाद कपड़े से थोड़ा रगड़कर खिलौने को साफ कर दें तो

वह चमकने लगेगा। अब खिलौने पर यदि एक ही प्रकार का लाल, नीला, पीला या कोई अन्य रंग करना हो, तो उस रंग को घोल में मिला दें और खिलौने को डुबाकर उसमें से निकाल लें, इस प्रकार रंगीन खिलौना तैयार हो जायेगा।

अगर खिलौने के अलग-अलग भागो पर अलग-अलग रंग करना आवश्यक हो, तो उसे ब्रश की सहायता से सावधानीपूर्वक रँगना चाहिए। इससे खिलौना कलात्मक और सुन्दर लगने लगेगा।

(6) आम, बैंगन और अनार आदि के मॉडल

आम का मॉडल—आम का मॉडल बनाने के लिए आकार के अनुरूप मिट्टी तोड़कर हाथ, अँगूठा और उँगलियों का सहारा लेकर आम के अनुसार आकृति बनायें। पहले मिट्टी को अण्डे की आकृति प्रदान करनी चाहिए। अब आकृति का नीचे का कुछ भाग अँगूठे से दबा देना चाहिए।

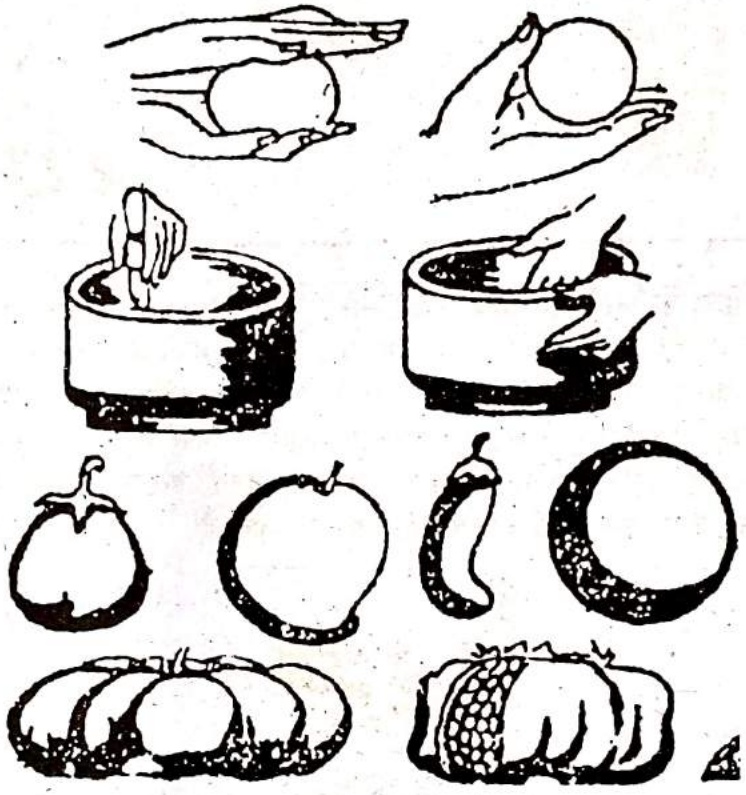

कठपुतली—गत्ते, लकड़ी की पुतलियाँ बनाकर उनके पीछे डोरी बाँधकर उँगलियों से कथानुसार नचाया जाता है। छड़ीदार कठपुतली, अँगूली से नचाने वाली कठपुतली, ग्लोब पपेट आदि पुतलियों का निर्माण पाठ्यक्रम के अनुसार किया जा सकता है।

(7) स्प्रे द्वारा सजावट करना
(Decoration by Spray's Point)

स्प्रे करने की दो विधियाँ हैं—

(i) स्प्रेयर द्वारा स्प्रे करना। (ii) कंघे और ब्रश द्वारा स्प्रे करना।

(i) स्प्रेयर द्वारा स्प्रे करना—स्प्रेयर द्वारा स्प्रे करने के लिये स्प्रेयर नामक यन्त्र प्रयोग करते हैं। यह यन्त्र एक प्रकार का रंग छोड़ने का फव्वारा होता है, इसमें टीन की खोखली नली होती हैं। ये दोनों नलियाँ एक पेंच द्वारा समकोण बनाती हुयी जुड़ी रहती हैं। इसमें एक नली पतली व लम्बी और दूसरी छोटी तथा मोटी होती है। अब कपड़े रँगने वाले रंग को स्प्रिट में घोलकर किसी गिलास में भर लेते हैं। यह रंग न तो अधिक गाढ़ा और न अधिक पतला हो। अब स्प्रेयर की लम्बी नली को उस गिलास में डुबा देते हैं तथा छोटी नली को होठ पर लगाकर समान गति से फूँक मारते हैं। स्प्रे द्वारा डिजाइन तैयार करने के लिये सर्वप्रथम किसी कागज पर अपनी पसन्द का आलेखन काट लेते हैं फिर कटे हुए डिजाइन को कागज पर मोम आदि की सहायता से जमाकर दीवार पर अपने मुँह की सीध में चिपका देते हैं। इसके पश्चात् स्प्रे नली द्वारा कागज पर मुँह से समान गति से फूँक मारकर एक या अधिक रंग की छींट डालते

है। इस समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि स्प्रे नली मे बहुत जोर से फूँक नहीं मारनी चाहिये। ऐसा न करने से बहुत अधिक रंग कागज पर चला जायेगा और चित्र खराब हो जायेगा। जब फव्वारे की छींटे कागज की कटी हुई आकृति पर पड़ती हैं तो स्टेन्सिल की समस्त डिजाइन (इच्छित वस्तु) कागज पर छप जाती है। अब कागज पर रखे हुए डिजाइन को हटा लेने पर अत्यन्त सुन्दर आकर्षक तैयार हो जाता है। इस प्रकार स्प्रे चित्र द्वारा सजावट की जाती है।

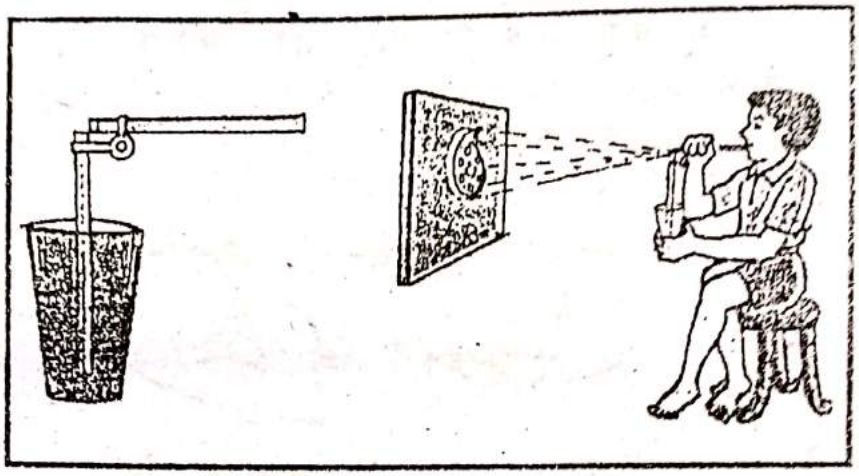

(ii) कंघे और ब्रश द्वारा स्प्रे करने की विधि—कंघे और ब्रुश द्वारा स्प्रे करने के लिये सर्वप्रथम कागज अपनी मनपसन्द डिज़ाइन काटकर तैयार कर लेते हैं। इस कटे हुए चित्र को मोम की सहायता से छपने वाले कागज पर चिपका देते हैं। अब दाँत साफ करने का ब्रश लेते हैं। तत्पश्चात् कपड़े रँगने के रंग में स्प्रिट मिलाकर गाढ़ा घोल तैयार कर लेते हैं। अब इस ब्रश को रंग में भिगोकर तथा बायें हाथ में ब्रश और दायें हाथ में कंघा लेकर कागज पर लगे डिजाइन में ऊपर कंघे और ब्रश द्वारा डालते हैं। कागज के सम्पूर्ण स्थान पर छींटे डालने के पश्चात् कागज के ऊपर लगे डिजाइन को उतार देते हैं। इस प्रकार कंघे और ब्रश द्वारा स्प्रे-चित्र तैयार हो जाता है। इस विधि द्वारा कागज पर सुन्दर एवं आकर्षक डिजाइन बन जाता है।

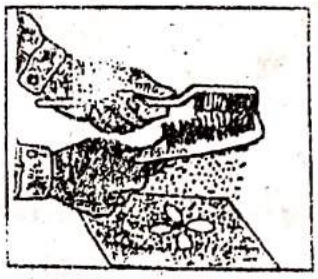

1. दफ्ती के मॉडल बनाना

दफ्ती के मॉडल बनाने से पूर्व उसके आकार-प्रकार की सही जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। इससे मॉडल के लिए उतनी सामग्री मँगाई जाती है जितनी उस मॉडल के लिए आवश्यक हो। इससे मॉडल सुन्दर होने के साथ-साथ कम खर्च में उचित समय पर तैयार भी हो जायगा। दफ्ती के मॉडल को तैयार करने के लिए निम्न प्रक्रियाएँ अपनाई जाती हैं—

1. मॉडल की आकृति का रेखाचित्र बनाना

दफ्ती की वस्तु बनाने से पूर्व उसके ढाँचे का चित्रण कर लेना चाहिए। इससे अभीष्ट मॉडल का एक धुँधला-सा रूप मस्तिष्क में बैठ जाएगा और मॉडल बनाते समय यह स्पष्ट हो जाएगा कि कहाँ, कैसा मोड़ देना है या कटाई करनी है। यदि चित्र मंजूषा बनानी हो तो उसके बनाए गए चित्र से यह स्पष्ट हो जाएगा कि कहाँ और कौन-सी दफ्ती की पट्टियाँ लगाई जाएँगी और कहाँ-कहाँ कपड़ा चिपकाया जाएगा।

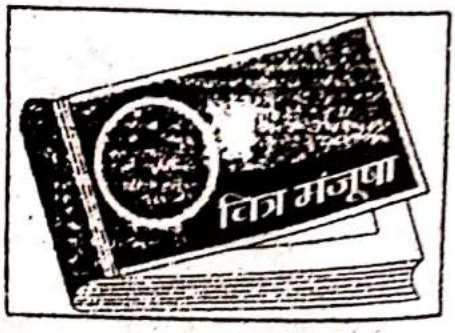

2. दफ्ती के मॉडल के सही नाप का निर्धारण

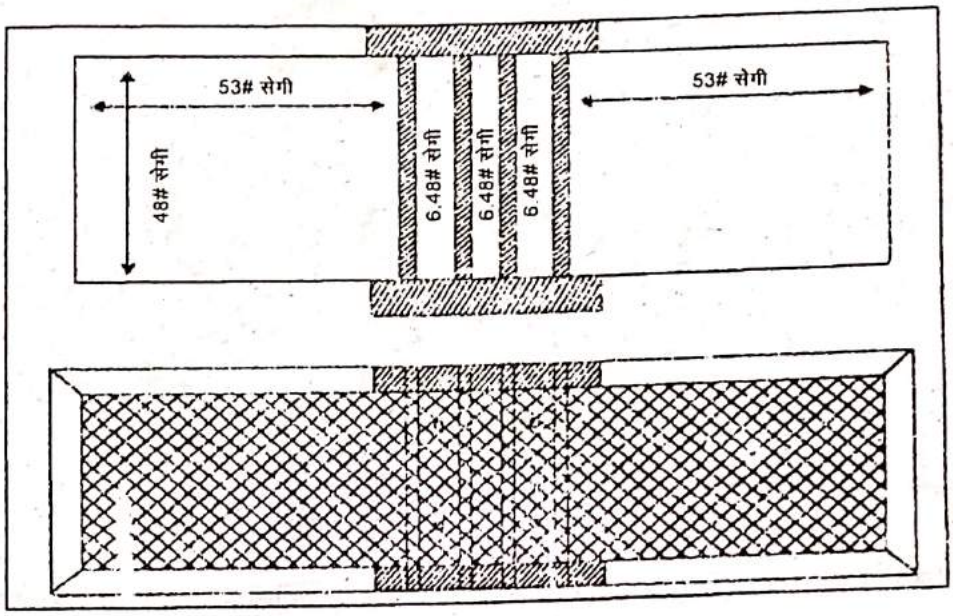

दफ्ती की वस्तु बनाते समय उसके सही नाप का निरूपण भी कर लेना आवश्यक है। अभीष्ट मॉडल बनाने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होगी उनकी भी नाप निश्चित कर लेनी चाहिए; जैसे—मान लीजिए आपको एक कॉलेज फाइल बनानी है। कॉलेज फाइल बनाते समय इसमें लगने वाली दफ्ती की लम्बाई-चौड़ाई निश्चित हो जाने के बाद ही यह स्पष्ट हो पाएगा कि कॉलेज फाइल के ऊपरी भाग के कागज की नाप क्या होगी या उसमें कितना जिल्दसाजी का कपड़ा लगेगा आदि। इन बातों का ज्ञान हो जाने से समय की बचत के साथ-साथ मॉडल सुन्दर तथा मजबूत भी बनेगा।

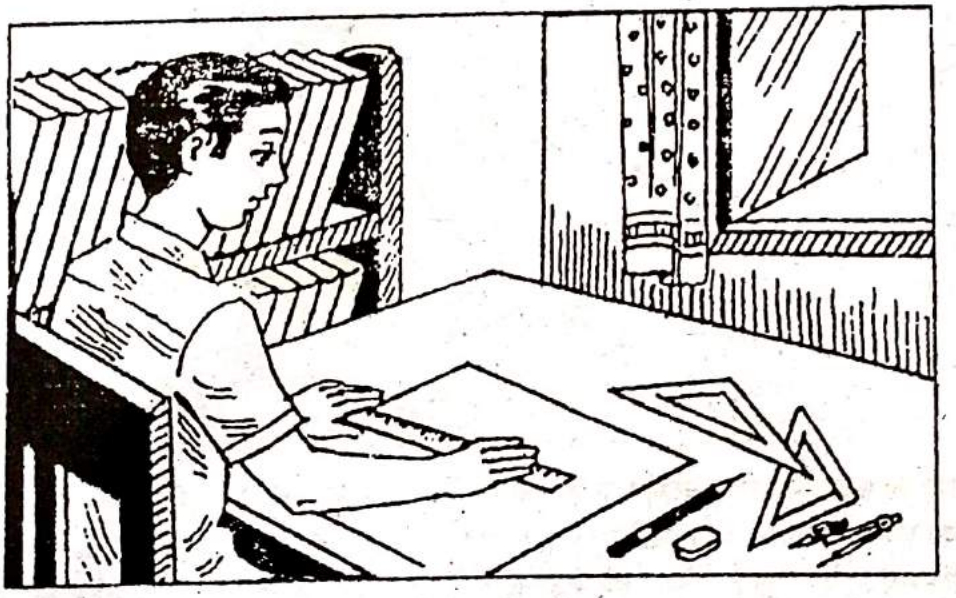

3. दफ्ती का मॉडल बनाते समय उसकी आवश्यक काट-छाँट करना

वस्तु को बनाते समय जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है उन सबको चिपकाने से पहले निश्चित नाप से काट लिया जाता है। ऐसा करने से केवल मॉडल शुद्ध ही नहीं बनेगा बल्कि आपको यह भी ज्ञात जो जायेगा कि कौन सी चीज कब, कहाँ और कैसे काटनी और चिपकानी है। पुस्तक कला में कुछ ऐसे भी मॉडल बनाने पड़ते हैं जिनको बनाने में दफ्ती की मोटाई के आगे का भाग आधा काटकर मोड़ना पड़ता है। इसे अंग्रेजी में हाफ-कट कहते हैं।

इसके लिए स्टेन्सिल चाकू तथा सुरक्षित किनारे की पटरी का प्रयोग किया जा जाता है। हाफ-कट करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि दफ्ती छोटी न कट जाये। काटने से पूर्व हल्के हाथों से निश्चित स्थान पर पेन्सिल से पहले एक हल्की लाइन खींच लेनी चाहिए। इसके बाद ही सुरक्षित किनारे की पटरी और स्टेन्सिल चाकू से धीरे-धीरे हाफ-कट कर लेना चाहिए।

4. दफ्ती का मॉडल बनाते समय चिपकाना

दफ्ती की वस्तु बनाने में सबसे महत्त्वपूर्ण काम चिपकाने का कार्य है। इस काम में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। इसमें एकाग्रता की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। जरा-सी भूल हो जाने पर सारा मॉडल खराब या गन्दा हो सकता है।

सामग्री की कटाई का उद्देश्य उसे यथास्थान पर लगाना या जोड़ना है। सामग्री को निर्धारित स्थान पर लगाने या जोड़ने के लिए गोंद, लेई या सरेस का प्रयोग किया जाता है। पुस्तक-कला में गोंद का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। सरेस मोटी दफ्ती या लकड़ी को जोड़ने के लिए काम में लिया जाता है। केवल एकमात्र लेई ही पुस्तक कला के सभी कार्यों में प्रयोग की जाती है। लेई भी मैदा या अरारोट की होनी वांछनीय है। दूसरी लेई में चिपक कम होती है।

5. हाथ से बने दफ्ती के मॉडलों को सजाना

सजावट का एकमात्र उद्देश्य मॉडल को सुन्दर बनाना है जिसको देखने वाला पसन्द ही न करे बल्कि उसे पाने के लिए आतुर भी हो जाये। सजावट मॉडल के अनुसार एवं साधारण (Simple) होनी चाहिए। सजावट के विभिन्न माध्यम होते हैं जिनमें से किसी एक का चयन किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए रजिस्टर पर चढ़ाई गई जिल्द की सजावट के लिए रंग-बिरंगी अबरी का प्रयोग किया जाता है।

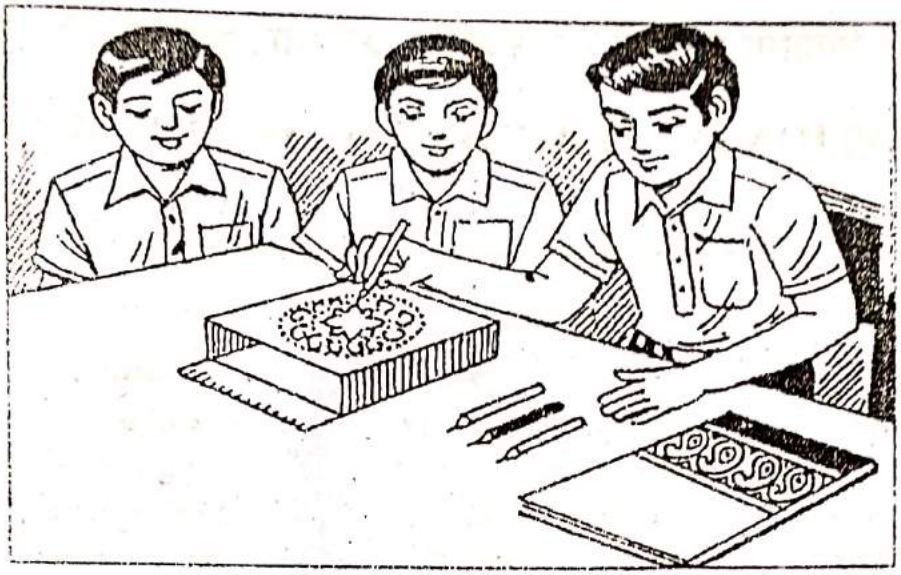

3 शिक्षण सामग्री की तैयारी (कविता, भाषण और कहानी आदि)

[PREPARATION OF TEACHING AIDS (RHYMES, SPEECH AND STORY ETC.)]

(1)

सवेरा

निकला सूरज, हुआ सवेरा,
खिली रोशनी, गया अँधेरा।
चिड़ियाँ ची-चीं करके चहकीं,
फूलों की हैं कलियाँ महकीं।
उठो, प्रार्थना मिलकर गाओ,
प्रभु के आगे शीश झुकाओ।

(2)

फूल

फूल-फूल तुम कितने अच्छे,
तुम्हें प्यार करते हैं बच्चे,
रंग तुम्हें दे जाता कौन ?
इत्र छिड़क महकाता कौन ?
बतलाओ तो उसका नाम,
करे सदा जो अच्छे काम।

(3)

प्यासा कौआ

एक कौआ प्यासा था,
घड़े में पानी थोड़ा था।
कौआ लाया कंकड़,
घड़े में डाले कंकड़।
पानी आया ऊपर,
कौए ने पिया पानी।
खत्म हुई कहानी।।

(4)

तितली रानी

तितली रानी तितली रानी
चटक मटक कर कहाँ चली।
लाल गुलाबी, नीली पीली,
ओढ़ चुनरिया कहाँ चली।।
तुझे देख मन यूँ करता है
मैं भी तेरे संग उड़ूँ।
फूलों की डाली पर झूलूँ।
तुझसे मीठी बात करूँ।।

(5)

टेलीविजन

मेरे घर में टेलीविजन,
रंग बिरंगा टेलीविजन !
नाच दिखाता, गीत सुनाता
तरह-तरह के खेल दिखाता,
बिना टिकट के बिन पैसे के,
दूर-दूर की सैर कराता।

(6)

इन्द्रधनुष

पानी इधर बरसता है,
सूरज उधर चमकता है।
इसी बीच में मौका पाकर,
इन्द्रधनुष सतरंगा आकर।
आसमान पर छाया है,
सबके मन को भाया है।

(7)

बिल्ली और चूहा

चूहों की बस्ती में आकर,
बिल्ली ने दुकान जमाई।
लगी बेचने, सस्ते दामों,
मीठे बिस्कुट और मलाई।
चूहे दौड़-दौड़ कर आते,
लेते और मजे से खाते।
पर वे वापस न जा पाते,
बिल्ली का भोजन बन जाते।

(8)

प्यारी चिड़िया

प्यारी चिड़िया, प्यारी चिड़िया,
चूँ-चूँ करके आती है।
छोटे-छोटे पंख फैलाकर,
सुन्दर गाना गाती है।
फिर इठला कर दूर गगन में,
वह चिड़िया उड़ जाती है।

(9)

बच्चे

हम हैं नन्हें-मुन्ने बच्चे,
सीधे-सादे, भोले, सच्चे।
भेद-भाव का नाम नहीं है,
झगड़ा करना काम नहीं है।
बोलें 'जयहिंद' जोर से,
आकाश गूँजेगा शोर से।
कदम मिलाकर साथ चलेंगे,
हम सबसे आगे निकलेंगे।

(10)

समूह ज्ञान

हम सब मिल कर रहना सीखें,
हर क्षण प्यार लुटाना सीखें।
कोई देश नही छोटा है,
रंग नहीं कोई खोटा है।
कोई धर्म नहीं ऊँचा है,
कर्म नहीं कोई नीचा है।
सब समान हैं, सब अच्छे हैं,
सब में प्यार जगाना सीखें।
आओ सब मिल कर रहना सीखें,
हर क्षण प्यार लुटाना सीखें।

(11)

प्रार्थना

हे जग के रक्षक, प्रतिपालक, मुझ में ऐसी शक्ति भरो।
दया, क्षमा, करुणा अनन्त दो, दुर्गुण सारे दूर करो।।
मुझे शक्ति दो स्वयं चलूँ मैं, असत् त्याग सत् के पथ पर।
अन्धकार हो दूर धरा का, जले ज्ञान-दीपक घर-घर।।
मुझे अमरता नहीं चाहिए, मृत्यु भली सौ बार करूँ।
किन्तु मृत्यु के पूर्व जन्म भर, मानव हित ही कार्य करूँ।।

(12) सरस्वती वन्दना

हे शारदे माँ-हे शारदे माँ
अज्ञानता से हमें तार दे माँ

तू स्वर की देवी, ये संगीत तुझसे, हर शब्द मेरा है, हर गीत तुझसे
हम हैं अकेले, हम हैं अधूरे, तेरी शरण हम, हमें प्यार दे माँ
हे शारदे माँ-हे शारदे माँ

मुनियों ने समझी, गुणियों ने जानी, वेदों की भाषा, पुराणों की वाणी
हम भी तो समझें, हम भी तो जानें, विद्या का हमको, अधिकार दे माँ
हे शारदे माँ-हे शारदे माँ

तू श्वेत वर्णी, कमल पे विराजे, हाथों में वीणा, मुकुट सर पे साजे
मन से हमारे, मिटा दे अँधेरा, उजालों का संसार दे माँ
हे शारदे माँ-हे शारदे माँ।

(13)

Clouds

White sheep, white sheep
On a blue hill,
When the wind stops
You all stand still
You walk far away
When the winds blow.
White sheep, white sheep,
Where do you go ?

(14)

The Koel

There sits a little koel
Upon a mango tree
He wakes me up each morning
And sings a song to me.
He gobbles up a big fat worm
And with his small black eye
He gives a little wink to me
Then flies up to the sky.
And when the night is coming.

(15)

My Dear Mummy

My dear, dear Mummy,
Let me kiss your face,
I want you to be happy
Today and always !
Be happy, be happy,
To day and always !
Be happy, be happy
Today and always !

4 कम्प्यूटर जागरूकता, साक्षरता/ज्ञान

[COMPUTER AWARENESS, LITERACY/ KNOWLEDGE]

प्रश्न 1—कम्प्यूटर से आप क्या समझते हैं ? कम्प्यूटर का आविष्कार क्यों हुआ ? संक्षेप में स्पष्ट कीजिए। इसके क्या लाभ हैं ?

उत्तर–

कम्प्यूटर का अर्थ

कम्प्यूटर शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के शब्द 'कम्प्यूट' (Compute) से हुई है, जिसका अर्थ है—गणना करना। कम्प्यूटर विकास के प्रारम्भिक काल में इसका मुख्य कार्य केवल गणना करना ही था, परन्तु तकनीकी विकास के साथ कम्प्यूटर के कार्यों में भी वृद्धि हुई है। कम्प्यूटर में ये कार्य निम्न चार चरणों में होते हैं—

(1) आँकड़ों को ग्रहण करना अर्थात् इनपुट करना (Input of Data),
(2) आँकड़ों का संचयन करना (Storage of Data),
(3) आँकड़ों का संसाधन (Processing of Data),
(4) परिणाम देना (Output)।

ये आँकड़े ध्वनि संकेतों, लिखित रूप से ग्राफ के रूप में अथवा किसी अन्य रूप में दिये जा सकते हैं।

हम कह सकते हैं कि कम्प्यूटर एक स्वचालित और असीम प्रयोजनों (उद्देश्यों) वाली ऐसी इलेक्ट्रॉनिक युक्ति (Electronic Device) है, जो एक बार चालू किये जाने के बाद स्वत: ही चलती रहती है और इससे इनके कार्य एक साथ किये जा सकते हैं। कम्प्यूटर में तार्किक शक्ति व स्मृति (Memory) का भी भरपूर प्रभाव होता है। आधुनिक कम्प्यूटर्स में दिये गये निर्देशों को स्वीकार कर उनको स्मृति में बनाये रखने और उनका अक्षरश: पालन करने की क्षमता होती है।

कम्प्यूटर की परिभाषा

कम्प्यूटर एक इलेक्ट्रॉनिक डाटा प्रोसेसिंग डिवाइस (Electronic Data Processing Device) होता है इसमें तीव्रता, परिशुद्धता एवं विश्वसनीयता के गुण विद्यमान रहते हैं।

परिभाषिक शब्दों में, **कम्प्यूटर एक ऐसी इलेक्ट्रॉनिक युक्ति है, जो प्राप्त सूचनाओं को दिये गये निर्देशों के अनुरूप विश्लेषित कर, अत्यन्त सूक्ष्म समय में सत्य एवं विश्वसनीय परिणाम प्रस्तुत करती है।**

कम्प्यूटर का आविष्कार क्यों हुआ?

आवश्यकता आविष्कार की जननी है

यदि हम आज अपने चारों ओर दृष्टि डालें तो हमें कम्प्यूटर का हस्तक्षेप ही नजर आयेगा। हमारे दैनिक क्रिया-कलापों में कम्प्यूटर की उपयोगिता निरन्तर बढ़ती जा रही है। कम्प्यूटर से तैयार किया गया बिजली और टेलीफोन का बिल हमारे यहाँ आता है। बोर्ड एवं विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की अंकतालिका कम्प्यूटर द्वारा तैयार की जाती है। अनेक रेलवे स्टेशनों पर टिकट का आरक्षण भी कम्प्यूटर द्वारा होता है। छपाई का अधिकांश कार्य अब कम्प्यूटर के उपयोग से ही हो रहा है। कारखानों, उच्च शिक्षा और शोधकार्यों में कम्प्यूटर का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। चूँकि कम्प्यूटर शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के शब्द कम्प्यूट, जिसका अर्थ है, गणना करना, से हुई है, अत: यह स्पष्ट है कि कम्प्यूटर का सम्बन्ध गणनाओं से ही होगा।

प्राचीन काल से ही मनुष्य गणना करने के लिये विभिन्न साधनों का उपयोग करता रहा है। कुशल गणना के बिना न तो पिरामिड्स को बनाना सम्भव होता और न ही नहरें, बाँध आदि का निर्माण सम्भव होता। इन सभी के निर्माण में उच्च तकनीकी कौशल एवं सूक्ष्म तथा अचूक गणनाओं की आवश्यकता की पूर्ति जब कम्प्यूटर की सहायता के बिना ही कर ली गयी, तो फिर आज कम्प्यूटर की ऐसी क्या आवश्यकता महसूस हुई, जबकि हमारे पास इससे सस्ती और सरल विधियाँ उपलब्ध नहीं, तो कम्प्यूटर का आविष्कार क्यों हुआ ?

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यह महसूस किया गया कि बेहतर सामरिक स्थिति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि विज्ञान तथा तकनीकी क्षेत्र में तेजी से विकास किया जाये। हवाई जहाजों, पनडुब्बियों तथा लम्बी दूरी तक मार करने वाले टैंकों से मुकाबला करने के लिये आवश्यक था कि ऐसी उच्च क्षमता वाली युक्ति का विकास किया जाये, जिसकी सहायता से न दिखने वाले लक्ष्य (Target) पर भी आक्रमण किया जा सके। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये रडार (Radar) का आविष्कार हुआ। रडार की सहायता से शत्रु का स्थान, उसके आगे बढ़ने की दिशा एवं गति का पता लगाया जा सकता था। इसके बाद आवश्यक था कि बन्दूकों को रडार द्वारा बताये गये निशानों पर केन्द्रित किया जाये ताकि इनसे की जाने वाली गोलाबारी लक्ष्य का अचूक वेधन कर सके, परन्तु इसके लिये अत्यन्त सूक्ष्म समय में जटिल गणनाओं को करके सत्य एवं विश्वसनीय परिणाम प्राप्त होने आवश्यक थे। मनुष्य की तत्कालीन क्षमताओं के आधार पर यह असम्भव था। अब एक ऐसी मशीन, जो कि इस प्रकार की गणनाओं को सूक्ष्म समय में बिना किसी त्रुटि के कर सके, की आवश्यकता महसूस हुई।

यह आवश्यकता ही कम्प्यूटर के आविष्कार का कारण बनी।

कम्प्यूटर के लाभ

1. तीव्र गति (High Speed)—कम्प्यूटर अत्यन्त तीव्र गति से बड़े से बड़े आँकड़ों का हल कुछ ही पलों में निकाल देता है। यदि इसको दिया गया निर्देश सही है तो यह मनुष्य से भी अधिक शीघ्रता से कार्य करता है।

2. परिशुद्धता (Accuracy)—कम्प्यूटर कभी भी गलती नहीं करता है। यह निर्देशों के अनुसार कार्य करता है। यदि इसको दिए गए निर्देश सही हैं तो यह उचित परिणाम देता है।

3. परिश्रमी (Hard Working)—यह बहुत मेहनती होता है। आप कम्प्यूटर पर बिना रुके घण्टों कार्य कर सकते हैं। यह कभी थकता नहीं है।

4. बहुकर्मिक (Multi-tasker)—कम्प्यूटर अंग्रेजी, गणित एवं अन्य शैक्षिक कार्यों में हमारी सहायता करता है। आजकल कम्प्यूटर मनोरंजन के क्षेत्र में भी विस्तृत रूप से प्रयोग किये जाते हैं। हम इस पर संगीत सुन सकते हैं, फिल्म देख सकते हैं एवं कई प्रकार के कम्प्यूटर खेल भी खेल सकते हैं।

सही शब्दों में, यह स्वयं ही एक सम्पूर्ण मशीन है।

➤

प्रश्न 2—आधुनिक समाज में कम्प्यूटर के उपयोग की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

उत्तर–

आधुनिक समाज में कम्प्यूटर के उपयोग

प्रारम्भिक काल में कम्प्यूटर का उपयोग मूल रूप से गणनात्मक कार्यों के लिये ही हुआ करता था, परन्तु आज उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हो चुका है। मौसम की भविष्यवाणी, मशीनों और भवनों की डिजाइनिंग, अन्तरिक्ष यान का मार्गनिर्धारण एवं निर्देशन, पुस्तकों और समाचार-पत्रों की छपाई आदि सभी क्षेत्रों में कम्प्यूटर का उपयोग किया जा रहा है। बीमारी का सूक्ष्म परीक्षण और विश्लेषण, ट्रेन अथवा हवाई जहाज में सीट का आरक्षण, कार्यालय के दैनिक पत्रों एवं प्रपत्रों को तैयार करना और उनका आदान-प्रदान, लेखांकन आदि जैसे अनेक कार्य कम्प्यूटर की सहायता से वर्तमान समय में किये जा रहे हैं।

कम्प्यूटर ने मानव-जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। कुछ विशिष्ट क्षेत्र निम्नांकित हैं—

शिक्षा एवं शिक्षण (Education and Teaching)

आजकल शिक्षा के क्षेत्र में भी कम्प्यूटर का उपयोग वृहद् स्तर पर ही हो रहा है। कम्प्यूटर से शिक्षा का कार्य अत्यन्त प्रभावशाली है। प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा में कम्प्यूटर का उपयोग किया जा रहा है। शिक्षा में कम्प्यूटर का उपयोग स्कूल विषय से लेकर शिक्षक के रूप में हो रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में कम्प्यूटर का उपयोग निम्नांकित चार क्षेत्रों में अधिक व्यापक रूप से हो रहा है—

(1) शिक्षण तथा अनुदेशन प्रक्रिया में छात्रों के निदान के आधार पर सुधारात्मक शिक्षण करने के लिये।

(2) शिक्षा के शोध कार्यों में अनुसन्धानकर्त्ताओं द्वारा प्रदत्तों का विश्लेषण करने के लिये।

(3) शैक्षिक निर्देशन तथा परामर्श के लिये।

(4) परीक्षा प्रणाली में छात्रों का परीक्षाफल तैयार करने, मार्कशीट तैयार करने तथा प्रमाण-पत्र तैयार करने के लिये।

कम्प्यूटर के उपयोग की आधुनिक तकनीक, कम्प्यूटर के सूचना प्रणाली में उपयोग अर्थात् इन्टरनेट का उपयोग भी शिक्षा के क्षेत्र मे किया जा रहा है। विभिन्न शैक्षिक बोर्ड एवं सस्थान अपने परीक्षाफल इन्टरनेट पर प्रसारित करने लगे हैं। इससे छात्र को परीक्षा का परिणाम अत्यन्त अल्प समय मे प्राप्त हो जाता है। अखबार मे तो केवल रोल नम्बर देखकर छात्र ने परीक्षा कौन-सी श्रेणी मे उत्तीर्ण की है, इसी का ज्ञान होता है, जबकि इन्टरनेट पर छात्र अपने प्राप्तांक भी उसी समय प्राप्त कर सकता है।

मौसम की भविष्यवाणी (Weather Forecasting)

पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाले कृत्रिम उपग्रहों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर मौसम-वैज्ञानिक मौसम का विश्लेषण करते हैं। इन्ही सूचनाओं के आधार पर मौसम से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ की जाती हैं। कम्प्यूटर की सहायता से मौसम के बारे में पुरानी जानकारियों को एकत्रित करके इनके आधार पर मौसम मे होने वाले परिवर्तनों को आंका जाता है।

बैंकिंग एवं एकाउण्टिंग (Banking and Accounting)

कम्प्यूटर की सहायता से विभिन्न गणनाएँ तथा डेटा प्रबन्धन का कार्य अत्यन्त अल्प समय में दक्षतापूर्वक किया जा सकता है, इसलिए इसकी उपयोगिता बैंक तथा विभिन्न वित्तीय संस्थानों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यत: वे बैंक जिनमें अभी कम्प्यूटर का प्रयोग नहीं हो रहा है, दोपहर दो बजे तक ही ग्राहक सेवा का कार्य करते हैं। उसके उपरान्त वे अब तक के लेन-देन का लेखा-जोखा तैयार करते हैं, परन्तु बैंक की जो शाखाएँ कम्प्यूटरीकृत हो गई हैं, उनमें ग्राहक सेवा का समय बढ़ा दिया गया है, क्योंकि जो लेखा-जोखा पहले बैंक क्लर्क अपने हाथ से किया करते थे, वह वे कम्प्यूटर की सहायता से अत्यन्त अल्प समय में ही कर लेते हैं। बैंक में पासबुक की प्रविष्टि भी एक समय लेने वाला कार्य था, कम्प्यूटरीकृत बैंक शाखाओं में खाते की विभिन्न प्रविष्टियों का प्रिन्टआउट ग्राहक को पलक झपकते ही उपलब्ध हो जाता है। यह सब कम्प्यूटर के कारण ही है।

बैंक तथा सामान्य व्यावसायिक प्रतिष्ठान से लेकर गृहिणी को भी एकाउण्टिंग का कार्य करना होता है। चूँकि एकाउण्ट का कार्य अंकगणितीय गणनाओं के आधार पर होता है, अत: कम्प्यूटर इस कार्य के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। मात्र एकाउण्टिंग ही नहीं, वरन् इनवेन्ट्री के कार्य के लिए भी कम्प्यूटर का उपयोग किया जाता है। अब तो व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के लिए एकाउण्ट तथा इन्वेन्ट्री का कार्य एक ही प्रोग्राम, टैली 5.4 की सहायता से किया जा सकता है।

वैज्ञानिक शोध (Scientific Research)

वैज्ञानिक शोध के प्रारम्भिक एवं मध्यवर्ती काल में शोधकार्य से सम्बन्धित गणनाओं को करना अत्यन्त कठिन एवं उबाऊ कार्य माना जाता था। इसमें अत्यधिक समय एवं शक्ति तो नष्ट होती ही थी, साथ ही इसमें त्रुटि की सम्भावना भी बनी रहती थी। कम्प्यूटर ने इस क्षेत्र में अपनी उपयोगिता को स्थापित कर दिया है। इसी कारण वैज्ञानिक शोध कार्यों के स्तर एवं मात्रा में गुणात्मक वृद्धि हुई है। आज गणित, भौतिकी, रसायन यहाँ तक कि जीव विज्ञान के वैज्ञानिक शोधों में कम्प्यूटर का उपयोग प्रमुखता से किया जा रहा है।

अन्तरिक्ष विज्ञान (Space Science)

अन्तरिक्ष विज्ञान में कम्प्यूटर का हस्तक्षेप नकारा नहीं जा सकता। मानव का चन्द्रमा पर कदम कम्प्यूटर के कारण ही पड़ सका है। अति तीव्र गति से त्रुटिहीन गणनायें करना एवं इनके आधार पर अपना मार्ग तय करना रॉकेट के लिये कम्प्यूटर की सहायता से ही सम्भव हुआ है। कम्प्यूटर की सहायता से ही आज मानव चन्द्रमा ही नहीं, मंगल व शुक्र ग्रह पर पहुँचने का स्वप्न देख रहा है। आज अनेक उपग्रह जो अन्तरिक्ष में विचरण कर रहे हैं, यह भी कम्प्यूटर की सहायता से ही सम्भव हुआ है।

सेना (Military)

आजकल सेना तथा अन्य सुरक्षा सेवाओं का अत्याधुनिकीकरण होता जा रहा है। युद्ध का समय हो अथवा शांति का, सेना के संचार प्रणाली का सशक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। सूचनाओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा तुरन्त लिए जाने वाले निर्णयों को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है। यदि संचार प्रणाली कम्प्यूटरीकृत है, तो सूचनाएँ अत्यन्त अल्प समय में भेजी तथा प्राप्त की जा सकती हैं। आजकल सेनाओं में मिसाइल्स का प्रयोग होने लगा है। जमीन से जमीन पर अथवा जमीन से हवा में मार करने वाली मिसाइल्स का नियन्त्रण यदि कम्प्यूटरीकृत हो तो इनके लक्ष्य से भटकने की सम्भावना नगण्य रह जाती है।

व्यवसाय (Business)

कम्प्यूटर के विकास के प्रारम्भिक काल मे जहाँ इसका उपयोग केवल गणनाओं के सरलीकरण के लिये किया गया था, वहीं आज इसका उपयोग विभिन्न कार्यों मे किया जाने लगा है। आज कम्प्यूटर पर किया जाने वाला 80% कार्य व्यावसायिक श्रेणी में आता है।

व्यवसाय के क्षेत्र में कम्प्यूटर का उपयोग, प्रारम्भ में कार्यालय सम्बन्धी कार्यों के लिये किया गया। कार्यालय सम्बन्धी अधिकांश कार्य एक निश्चित बँधे-बँधाये ढर्रे पर किया जाने वाला होता है। यह कार्य पहले से फाइलों में काफी व्यवस्थित रूप से होता था, अत: इसे कम्प्यूटर से करवाने में विशेष परेशानी नहीं हुई। कार्यालय के विभिन्न कागजी कार्यों, जिनको करने में अत्यन्त शक्ति तथा समय लगता था, कम्प्यूटर की सहायता से कम प्रयास से एवं कम समय में किया जाने लगा। व्यवसाय में कम्प्यूटर के कुछ उपयोगों का विवरण निम्नानुसार है—

(1) **कर्मचारी के वेतन आदि की जानकारी**–कम्प्यूटर द्वारा वेतन आदि का विवरण तैयार करना, इसकी प्रारम्भिक व्यावसायिक उपयोगिताओं में आता है। वैतनिक विवरण में कर्मचारी से सम्बन्धित समस्त जानकारियाँ, उसका काम, पदनाम, मूल वेतन, विशेष भत्ते, ऋण कटौती, आयकर कटौती, वेतन वृद्धि का समय आदि प्रत्येक कर्मचारी के लिये तैयार करके कम्प्यूटर को उपलब्ध करायी जाती हैं। अब प्रत्येक माह दी गयी जानकारियों के अनुरूप कर्मचारी का वेतन निर्धारित हो जाता है। भत्तों आदि में होने वाले परिवर्तनों को आवश्यकतानुसार मास्टर फाइल में कर दिया जाता है।

(2) **स्टॉक एवं बिक्री नियन्त्रण**–तैयार माल का लेखा-जोखा तथा बिक्री का व्यवस्थापन भी कम्प्यूटर द्वारा किया जा सकता है। किस भण्डारगृह में कौन-सा माल, कितनी मात्रा में रखा है, कितना माल और आया तथा कितना माल किस उद्देश्य (बिक्री अथवा सैम्पल) के लिये निकाला गया आदि का लेखा-जोखा कम्प्यूटर में रखा जा सकता है। इसके आधार पर व्यापारी अपना उत्पादन नियन्त्रण तथा नयी बिक्री की परियोजना तैयार कर सकता है।

(3) **प्रबन्धन**–कम्प्यूटर का उपयोग कुशल प्रबन्धन में भी किया जा रहा है। प्रबन्धन में सूचनाओं का विशेष महत्त्व होता है। कम्प्यूटर की सहायता से नवीनतम सूचनायें प्राप्त होती हैं। अत: इन सूचनाओं के आधार पर लिया गया निर्णय अधिक विश्वसनीय व कारगर सिद्ध होता है। साथ ही आपातकालीन स्थिति से काफी पूर्व ही, उचित निर्णय लेकर इस स्थिति को टाला जा सकता है। प्रबन्धन के विशेष विषय ऑपरेशनल रिसर्च (Operational Research) में वैज्ञानिक विधियों पर आधारित निर्णय लेने का कार्य किया जाता है। इसमें PERT तथा CPM तकनीक द्वारा कार्य-विश्लेषण किया जाता है। इस कार्य के लिये भी कम्प्यूट्र्स उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(4) **उत्पादन**–उद्योगों में उत्पादन की रूपरेखा, विभिन्न विभागों में सहयोग आदि का कार्य भी कम्प्यूटर द्वारा किया जा रहा है। विभिन्न मशीनों के संचालन में कम्प्यूटर का उपयोग किया जा रहा है। रसायन उद्योग (Chemical Industry) तथा अन्य प्रक्रिया आधारित (Process Industry) उद्योगों में तो सम्पूर्ण प्रक्रिया का संचालन कम्प्यूटर द्वारा किया जा रहा है। इससे बचत के साथ सुरक्षा व उत्पादन की गुणवत्ता में भी वृद्धि होती है।

जनगणना (Census)

किसी भी ऐसे कार्य जिसमें आँकड़ों तथा सूचनाओं का प्रयोग किया जाना है, के लिए कम्प्यूटर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। जनगणना का कार्य भी इसी प्रकार का है। जनगणना के क्षेत्र में कम्प्यूटर का उपयोग इसके प्रारम्भिक काल, सन् 1886 के आस-पास ही शुरू हो गया था। अमेरिकन जनसंख्या ब्यूरो में कार्यरत हरमन होलेरिथ, ने एक इलेक्ट्रिक टेबुलेटिंग मशीन का निर्माण, जनसंख्या के कार्य को सरल तथा कम समय में करने के लिए किया था। इस टेबुलेटिंग मशीन की सहायता से जनगणना का कार्य जो कि लगभग पाँच वर्षों तक चलना था, केवल दो वर्षों में पूर्ण कर लिया गया था।

दूरसंचार (Telecommunication)

कृत्रिम उपग्रहों का उपयोग दूरसंचार के लिये भी किया जाता है। टेलीविजन का Live Telecaste एवं विभिन्न दूरदर्शन चैनलों के कार्यक्रमों के प्रसारण में कम्प्यूटर का प्रयोग होता है। Internet, E-mail, Fax आदि दूरसंचार के माध्यम भी कम्प्यूटर द्वारा ही सम्भव हो सके हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कम्प्यूटर का क्षेत्र व्यापक है। आज मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किसी-न-किसी रूप में कम्प्यूटर का प्रयोग किया जा रहा है।

➤

प्रश्न 3—कम्प्यूटर के महत्त्व, गुण एवं अवगुणों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

उत्तर—

कम्प्यूटर का महत्त्व

मनुष्य के आधुनिक जीवन में कम्प्यूटर पूरी तरह रच-बस चुका है।

यह सूचनाओं पर आधारित इलेक्ट्रॉनिक युक्ति है इसमें सूचनाओं का संग्रहण, विश्लेषण तथा नवीनीकरण का कार्य अत्यन्त सरलता एवं दक्षता से अल्प समय में किया जा सकता है। मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किये जाने वाले महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिये नवीनतम एवं सत्य सूचनाओं का उपलब्ध होना आवश्यक है। अत: कम्प्यूटर का महत्त्व आज मनुष्य के लिये प्रत्येक क्षेत्र में स्थापित हो चुका है।

कम्प्यूटर के गुण

अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण आज यह कम्प्यूटर हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करता जा रहा है। इसके मुख्य गुण निम्नानुसार हैं—

(1) गति (Speed)—कम्प्यूटर को इसकी तीव्र गति के कारण, इसे एक ऐसा संगणक (Calcutator) कहा जा सकता है, जिसके द्वारा असम्भव वैज्ञानिक गणनाओं को कुछ ही सेकण्ड्स में किया जा सके। आज कम्प्यूटर का प्रयोग सेना, विज्ञान व शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ता ही जा रहा है। कम्प्यूटर एक इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र है। आज के कम्प्यूटर बहुत तीव्र गति से गणना करते हैं। इन्हें हम इस प्रकार से जान सकते हैं कि गति की इकाई सेकण्ड, माइक्रोसेकण्ड (सेकण्ड का एक लाखवाँ भाग अर्थात् 10^{-6} सेकण्ड), नैनोसेकण्ड (10^{9}), पीकोसेकण्ड (10^{-12}) होती है। आज के कम्प्यूटर 18 से 20 अंकों वाली संख्याओं को जोड़ने के लिये 300 से 400 नैनोसेकण्ड का समय लेते हैं। एक लाख तक की गिनती में मनुष्य को लगभग पूरा दिन लग सकता है परन्तु आधुनिक माइक्रो कम्प्यूटर्स एक सेकण्ड में एक लाख अनुदेशों का पालन कर सकता है।

(2) संग्रहण क्षमता (Storage Capacity)—किसी व्यक्ति को मस्तिष्क के सभी कार्यों को करने के लिये स्मृति की आवश्यकता होती है। यदि हम कोई गणना करते हैं तो हम गणना के उपरान्त प्राप्त परिणाम को भी स्मृति में रखने के बाद ही उत्तर देते हैं। लेकिन एक व्यक्ति सीमित सन्देशों को ही अपनी स्मृति में सुरक्षित रख सकता है। अत: जो बात उसके लिये पुरानी होती जाती है, वह स्मृति से हटने लगती है। कम्प्यूटर की स्मृति, जो बहुत अधिक होती है, इसमें हम सभी सन्देशों को एकत्र करके रख सकते हैं। उदाहरण के लिये, एक छोटी-सी कॉम्पैक्ट डिस्क में हजारों पृष्ठों पर आने वाली जानकारी को संग्रहीत किया जा सकता है, एक लेजर डिस्क में लगभग चार करोड़ शब्दों को संग्रहीत किया जा सकता है। इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर में प्रयोग की जाने वाली स्मृति (Memory) की इकाई किलोबाइट होती है। एक किलोबाइट में 1024 स्मृतिखण्ड होते हैं। कम्प्यूटर की आन्तरिक मेमोरी में सभी सन्देशों को संग्रहीत कर पाना बहुत कठिन है, अत: इसके लिये हम बाहरी स्मृति (External Memory) का प्रयोग करते हैं। बाहरी स्मृति में हम जितने चाहे सन्देशों को स्टोर कर सकते हैं; और इन्हें कभी भी प्रयोग किया जा सकता है।

(3) शुद्धता एवं विश्वसनीयता (Accuracy and Reliability)—कम्प्यूटर में शुद्ध परिणामों को प्रस्तुत करने की क्षमता बहुत अधिक होती है। कम्प्यूटर में उच्च क्षमता वाले ठोस इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रयोग होता है। इन इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों द्वारा किये गये विश्लेषण एवं दिये गये परिणाम में अशुद्धि होने की सम्भावना नगण्य होती है। अधिकतर कम्प्यूटर द्वारा प्रस्तुत की गयी अशुद्धता प्रयोगकर्त्ता द्वारा की गयी गलती और कम्प्यूटर हार्डवेयर में होने वाली खराबी के कारण ही होती है, इसका अन्य कोई कारण सम्भव ही नहीं है। कम्प्यूटर में गलतियों को सही करने की क्षमता अन्य यन्त्रों की अपेक्षा अधिक होती है।

(4) सार्वभौमिकता (Versatility)—कम्प्यूटर का प्रयोग आजकल अनेक ऐसे कार्यों में होने लगा है, जिनकी कल्पना कभी मानव किया करता था। कम्प्यूटर की सार्वभौमिकता का अनुमान इसी से लग जाता है कि एक ओर जहाँ कम्प्यूटर की सहायता से अनेक उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़े जा रहे हैं और उन उपग्रहों से सूचनाओं को प्राप्त करके विश्लेषण के उपरान्त परिणाम प्रस्तुति का कार्य भी कम्प्यूटर के द्वारा किया जा रहा है। दूसरी ओर कम्प्यूटर का प्रयोग मात्र डेटा एन्ट्री एवं विभिन्न गेम्स को खेलने के लिये भी किया जा रहा है। ऐसा अनुमान है कि जिस प्रकार आज बिजली एवं टी० वी० लगभग प्रत्येक घर की आवश्यकता बन चुके हैं उसी प्रकार आने वाले समय में कम्प्यूटर भी एक आवश्यक उपकरण के रूप में घरों में प्रयोग किया जाने लगेगा, बल्कि विदेशों में तो ऐसा होने भी लगा है।

कम्प्यूटर द्वारा जो भी कार्य सम्पन्न कराना होता है, उसे एक निश्चित क्रम में बाँधा जाता है, फिर आँकड़ों को इस तरह एक पूर्वनिश्चित साँचे में ढाला जाता है कि वह कम्प्यूटर को ग्रहण हो सके। इस प्रकार कम्प्यूटर द्वारा मुख्य रूप से निम्न चार कार्य कराये जाते हैं—

(अ) प्रयोगकर्त्ता द्वारा इनपुट-आउटपुट युक्तियों द्वारा डाटा का आदान-प्रदान करना।

(ब) प्रयोगकर्त्ता द्वारा इनपुट की गयी सूचना का आंतरिक स्थानांतरण।

(स) अंकगणितीय गणना द्वारा परिणाम प्राप्त करना।

(द) कम्प्यूटर में इनपुट की गयी सूचनाओं का तुलनात्मक विवेचन करना।

(5) स्वचालन (Automation)—हमारे द्वारा दिये गये प्रोग्राम के एक बार कम्प्यूटर की मेमोरी में लोड हो जाने पर, इनपुट युक्तियों की सहायता से प्रविष्ट किये गये आँकड़ों का विश्लेषण सेन्ट्रल प्रोसेसिंग यूनिट (Central Processing Unit) द्वारा कार्यान्वित होता रहता है। सेन्ट्रल प्रोसेसिंग यूनिट द्वारा यह कार्यान्वयन तब तक चलता रहता है जब तक प्रोग्राम का अन्त अर्थात् सन्देश "प्रोग्राम समाप्त" नहीं आ जाता। कम्प्यूटर उसकी हाई लेवल की भाषाओं में तैयार किये गये प्रोग्राम की सहायता से दिये गये तर्कों के आधार पर स्वयं निर्णय भी ले सकता है अर्थात् कम्प्यूटर में कृत्रिम बुद्धि भी पैदा की जा सकती है।

(6) सक्षमता (Deligency)—कम्प्यूटर एक इलेक्ट्रॉनिक युक्ति है और इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र में कार्यभार अधिक होने पर भी खराबी के लक्षण नहीं पाये जाते, परन्तु कई यान्त्रिक यन्त्र कार्यभार अधिक होने पर खराबी के लक्षण प्रकट करने लगते हैं। यदि कम्प्यूटर को उचित वातावरण में प्रयोग किया जाये तो यह बहुत ही सक्षमता से कार्य कर सकता है। मानव से भी यदि लगातार कार्य करवाया जाये तो एक समय बाद मनुष्य का मस्तिष्क भी थकावट महसूस करने लगता है, और इस कारण वह संतुलन खोकर गलतियाँ करने लगता है।

कम्प्यूटर के अवगुण

जिस प्रकार सिक्के के दो पहलू होते हैं, उसी प्रकार कम्प्यूटर के अनेक गुणों के बावजूद इसके कुछ अवगुण भी हैं—

(1) बेरोजगारी (Unemployment)—कम्प्यूटर की सहायता से अधिक एवं जटिल कार्य को भी अल्प समय में सम्पन्न किया जा सकता है। इसलिए किसी कार्य को कम्प्यूटर की सहायता से किए जाने के लिए कम मानवशक्ति की आवश्यकता होती है। इससे किसी भी प्रतिष्ठान में कम कर्मचारियों की आवश्यकता होगी और यह बेरोजगारी में वृद्धि करने में सहायक होगी। आज जब जनसंख्या इतनी तीव्र गति से बढ़ रही है, ऐसे में कम व्यक्तियों को काम मिले, तो स्वाभाविक है, कि बेरोजगारी में वृद्धि निश्चित ही होगी।

(2) निर्भरता (Dependancy)—कम्प्यूटर के प्रयोग से हमें इतनी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, कि हमें इनकी आदत-सी हो जाती है और हम अपने विभिन्न कार्यों के लिए कम्प्यूटर पर निर्भर से हो जाते हैं। आज हम यदि सीधे-सीधे कम्प्यूटर का उपयोग नहीं कर रहे हैं, तो भी हम उन सेवाओं का उपयोग तो कर ही रहे हैं, जो कम्प्यूटर की सहायता से प्रदान की जाती हैं; जैसे-रेल अथवा विमान का आरक्षण, बैंक में हमारे खाते का हिसाब-किताब, अस्पताल में उच्चस्तरीय चिकित्सीय उपकरण, आदि। यदि किसी कारणवश कम्प्यूटर में कोई खराबी आ जाती है, तो इससे सम्बन्धित सेवाएँ प्रभावित होकर अनियमित हो जाती हैं, जबकि कम्प्यूटर के प्रयोग से पहले भी ये सेवाएँ सुलभ थीं। ➤

प्रश्न 4—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-

(i) कम्प्यूटर का शिक्षा पर प्रभाव (Impact of Computers on Education)

(ii) शिक्षा प्रशासन में कम्प्यूटर की भूमिका (Role of Computers in Educational Administration)

(iii) कम्प्यूटर और मानव-मस्तिष्क (Computer and Human Mind)

(iv) कम्प्यूटर और मानव में अन्तर (Difference between Computer and Human)

(v) कम्प्यूटर रोबोट (Computer Robots)

उत्तर—

(i) कम्प्यूटर का शिक्षा पर प्रभाव

कम्प्यूटर का आविष्कार विभिन्न प्रकार की गणनाओं को करने के लिए किया गया था। कम्प्यूटर की उपयोगिता को देखते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है और यह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी उपयोगिता को सिद्ध भी कर रहा है। ऐसे में शिक्षा जैसा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र इससे अछूता कैसे रह जाता है ?

कम्प्यूटर का प्रयोग प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्चतर शिक्षा तक किया जा रहा है। मनुष्य के मस्तिष्क में संचित सूचनाएँ समय के साथ-साथ धूमिल हो जाती हैं, परन्तु जो सूचनाएँ कम्प्यूटर में संचित हो जाती हैं, वे वैसी ही बनी रहती है। यदि किसी विषय को विद्यार्थी एक बार में ठीक प्रकार से समझ नहीं पाया है, तो कम्प्यूटर की सहायता से वह इस विषय का अध्ययन बार-बार कर सकता है, जो कि शिक्षण में एक शिक्षक द्वारा सम्भव नहीं है। इस प्रकार कम्प्यूटर का उपयोग शिक्षण सामग्री के साथ-साथ शिक्षक के रूप में होता है। इस प्रकार के शिक्षण से प्रत्येक विद्यार्थी को व्यक्तिगत लाभ होता है। विद्यार्थी को किसी विषय के बारे में गहन जानकारियाँ प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े पुस्तकालयों की मोटी-मोटी पुस्तकों में सिर खपाना होता है। कम्प्यूटर के लिए उपलब्ध अनेक ऐसे ज्ञानकोश (Encylopeadias) हैं, जिनमे से हम अपने लिए उपयोगी जानकारी को अत्यन्त अल्प समय में प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते है, कि कम्प्यूटर के प्रयोग से शिक्षा के अनेक आयाम प्राप्त होते हैं और हम वांछित विषय का अध्ययन करने के कार्य अल्प समय में ही कर सकते हैं। ➤

(ii) शिक्षा प्रशासन में कम्प्यूटर की भूमिका

शिक्षा प्रशासन में कम्प्यूटर की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। किसी भी विद्यालय, जिसमें हजारों विद्यार्थी होते हैं से लेकर बोर्ड, जिसमें कि लाखों विद्यार्थी परीक्षार्थी भाग लेते हैं, के लिए विद्यार्थियों के बारे में वांछित जानकारियों को रखने का कार्य, कम्प्यूटर की सहायता से किया जा सकता है। इस कार्य के लिए जहाँ अनेक क्लर्क और एक बड़े स्थान की आवश्यकता होती है, वहीं यह कार्य कम्प्यूटर की सहायता से एक टेबल पर एक कम्प्यूटर ऑपरेटर की सहायता से किया जा सकता है। कम्प्यूटर में संचित सूचनाओं का सम्पादन करना, रजिस्टरों में संचित सूचनाओं के सम्पादन करने से कहीं अधिक सरल है।

शिक्षा प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—परीक्षा। परीक्षा अनेक विषयों की होती है, जिसमें विभिन्न परीक्षार्थी परीक्षा देते हैं। इन परीक्षाओं के लिए जितना श्रम परीक्षार्थियों को करना होता है, उससे कहीं अधिक श्रम अध्यापकों को परीक्षार्थियों की उत्तर-पुस्तिका को जाँचने, उनको अनेक अंक प्रदान करके परिणाम घोषित करने में करनी होती है। इसी कार्य को कम्प्यूटर की सहायता से कम मानवशक्ति का उपयोग करके अल्प समय में ही किया जा सकता है। आजकल तो अनेक बड़ी प्रतियोगी परीक्षाओं की उत्तर-पुस्तिका भी इस प्रकार की होती है कि उसकी जाँच कम्प्यूटर की सहायता से ही कर ली जाती है। परीक्षा के परिणाम की घोषणा तो आजकल कम्प्यूटर की सहायता से इन्टरनेट पर की जानी सामान्य-सी बात हो गई है। समाचार-पत्र में घोषित परिणाम में तो परीक्षार्थी को केवल अपने उत्तीर्ण होने तथा प्राप्त श्रेणी की सूचना भर ही प्राप्त होती है, परन्तु कम्प्यूटर की सहायता से वह इन्टरनेट पर परिणाम को देखकर अपने कुल प्राप्तांक भी जान सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-प्रशासन के लिए कम्प्यूटर एक महत्त्वपूर्ण माध्यम में रूप में उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

(iii) कम्प्यूटर और मानव-मस्तिष्क

कम्प्यूटर का निर्माण मानव ने किया है। अत: कम्प्यूटर को मानव से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता परन्तु यह मानव से श्रेष्ठ कार्य करने में सक्षम अवश्य है।

मानव-मस्तिष्क की अपनी सीमायें हैं। इसकी कार्यक्षमता उम्र, वातावरण आदि से प्रभावित होती है। इसीलिये कम्प्यूटर मानव से अधिक विश्वसनीय होता है, कम्प्यूटर पर किसी भी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मानव के मस्तिष्क में लगभग 1 नील (100 Billion) तंत्रिकायें होती हैं। इन तन्त्रिकाओं को विभिन्न माध्यमों से समस्त सूचनायें प्राप्त होती हैं, ये माध्यम और सम्बन्धित सूचनायें हैं—नेत्र (दृश्य), कान (श्रवण), त्वचा (स्पर्श), नाक (गन्ध) एवं जीभ (स्वाद)।

एक लाख किलोमीटर से अधिक लम्बे तन्तु द्रुमिका अथवा डेन्ड्राइट (Dendrite) द्वारा आपस में गुँथी होती हैं। इन द्रुमिकाओं के मध्य एक संधि होती है, जो कि अन्तर्ग्रन्थन (Synapse) कहलाती है। इनके द्वारा ही मस्तिष्क के संकेत शरीर के अंगों तक तथा शरीर के विभिन्न अंगों से सूचनायें मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। मानव-मस्तिष्क और शरीर के विभिन्न अंगों के मध्य इस परिपथ के विस्तार द्वारा ही स्मृति, बुद्धि आदि का संचालन होता है। कम्प्यूटर में इन तांत्रिकाओं, तन्तुओं के परिपथ के स्थान पर तारों, I.C. आदि का जाल होता है, जिनकी सहायता से यह विभिन्न गणनायें करता है। कम्प्यूटर द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य गणना पर आधारित होते हैं।

(iv) कम्प्यूटर और मानव में अन्तर

(1) कम्प्यूटर की स्मृति, मानव की स्मृति की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है। मानव की स्मृति में संचित सूचनायें दैनिक अनुभवों एवं भावनाओं से प्रभावित होकर बदल सकती हैं।

(2) मानव की स्मृति उम्र के बढ़ने के साथ-साथ क्षीण होने लगती है, जबकि कम्प्यूटर की स्मृति पर उम्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(3) मानव-मस्तिष्क में बाइनरी संकेतों के प्रवाह की गति 10 मीटर प्रति सेकण्ड होती है अर्थात् मानव-मस्तिष्क एक सेकण्ड में 40,000 अनुदेश ग्रहण कर सकता है, जबकि कम्प्यूटर में बाइनरी संकेतों की गति 22 मेगा मीटर प्रति सेकण्ड होती है और यह 15 खरब अनुदेशों को एक सेकण्ड में ग्रहण कर सकता है। मानव-मस्तिष्क और कम्प्यूटर की क्षमता में इस अन्तर के कारण ही किसी घटनाक्रम के विवरणों को एकत्र करने में मानव को अत्यधिक समय लगता है, जबकि कम्प्यूटर इस कार्य को 2 अथवा 3 नैनोसेकण्ड में ही कर देता है।

(4) मानव-मस्तिष्क की अपेक्षा कम्प्यूटर से विभिन्न गणनायें अधिक तीव्रगति से की जा सकती हैं।

(v) कम्प्यूटर रोबोट

रोबोट को सामान्यत: 'यांत्रिक मानव' समझा जाता है। वास्तव में रोबोट एक ऐसी मशीन है जो मनुष्य के लिये बार-बार दोहराए जाने वाले, नीरस, श्रमसाध्य अथवा जोखिम भरे कार्य कर सकती है पर उसमें और स्वचालित मशीनों में कुछ अन्तर होता है। कई ऐसे घातक कार्य; जैसे कि बहुत गर्म वस्तुओं को इधर से उधर उठाकर रखना, या रेडियोधर्मी पदार्थों को सम्भालना, रोबोटों द्वारा आसानी से किये जा सकते हैं। अनेक सेन्सरों से युक्त व कम्प्यूटर द्वारा नियंत्रित रोबोट अब कई काम स्वयं की बुद्धि से भी कर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि रोबोट मनुष्यों की तरह ही हों। उद्योगों में इस्तेमाल किया जाने वाला पहला रोबोट अमेरिका की जनरल मोटर्स कम्पनी में, 1961 में स्थापित किया गया था। सबसे अधिक रोबोट मोटरकार बनाने वाले कारखानों में ही कार्यरत हैं। वहाँ उनके मुख्य कार्य होते हैं, वेल्डिंग करना और पेन्ट करना।

पहले रोबोट यांत्रिक होते थे पर अब उनमें कम्प्यूटरों का उपयोग किया जाने लगा है। कृत्रिम बुद्धि का सबसे अधिक उपयोग रोबोटों में ही हुआ है। इससे रोबोटों की कार्यक्षमता और 'सोचने की शक्ति' बहुत बढ़ गई है। वे नाभिकीय प्रयोगों और अंतरिक्ष अभियानों में भी इस्तेमाल किये जाने लगे हैं। वे ऐसे कार्य करने लगे हैं जिन्हें स्वयं मनुष्य के लिये करना बहुत कठिन होता है। मंगल ग्रह को भेजे गये अमेरिकी अतंरिक्षयान 'वाइकिंग-2' में मुख्य कार्य करने वाला 'व्यक्ति' एक रोबोट ही था, क्योंकि उस यान में कोई मनुष्य नहीं था। यान के मंगल पर उतर जाने के बाद उस रोबोट ने अपनी बाहें फैलाईं, चट्टान हटाकर मंगल की मिट्टी का नमूना इकट्ठा किया, उसे कैप्सूल में भरा, उस पर रासायनिक तथा अन्य परीक्षण किये और उनके परिणाम पृथ्वी पर बैठे वैज्ञानिकों को प्रेषित भी कर दिये। कनाडा से भारत आते हुए, 1960 में वायुयान 'कनिष्क' बम विस्फोट के फलस्वरूप, आकाश में ही फट गया था और स्कॉटलैंड के निकट सागर में डूब गया था। उसमें सवार सब यात्री मारे गये थे। उस दुर्घटना का कारण ज्ञात करने हेतु उस 'ब्लैक बॉक्स' को ढूँढने की जरूरत हुई, जिसमें वायुयान की उड़ान सम्बन्धी सूचनायें अंकित होती रहती हैं। गहरे सागर की तली पर जहाँ कोई भी मनुष्य उतर नहीं सकता, ब्लैक बॉक्स को ढूँढने और उसे सतह पर सुरक्षित लाने का दुरूह और जोखिमपूर्ण काम एक रोबोट ने ही सम्पन्न किया था।

5 प्राथमिक चिकित्सा और मौखिक परीक्षा

[FIRST AID AND VIVA-VOCE]

(I) प्राथमिक चिकित्सा (FIRST AID)

प्रश्न 1—प्राथमिक चिकित्सा से आप क्या समझती हैं ? इसके उद्देश्य, आवश्यकता एवं महत्त्व की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर–

प्राथमिक चिकित्सा

प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान आज हर गृहिणी के लिए ही नहीं, हर व्यक्ति के लिए आवश्यक हो गया है। आज वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप भौतिक साधनों की अधिकता के कारण नित्य प्रति दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। आए दिन समाचार-पत्रों में रेल, बस दुर्घटना, कारखाने में मशीन पर हाथ कटना, रसोई में स्टोव का फटना, व्यक्ति का पैर फिसलकर फर्श पर गिरना, पतंग उड़ाते समय बच्चे का छत से गिर जाना, साँप, बिच्छू का काटना आदि पढ़ते हैं। जब भी कोई दुर्घटना होती है उसका समय तथा स्थान ऐसा नहीं होता कि तुरन्त डॉक्टरी सहायता मिल सके। अत: ऐसे कठिन अवसरों पर परिस्थिति से उबरने के लिए प्राथमिक चिकित्सा की आवश्यकता होती है।

प्राथमिक चिकित्सा या तात्कालिक उपचार का अभिप्राय उस प्राथमिक सहायता से है जिसके द्वारा रोगी के जीवन की रक्षा हेतु किसी डॉक्टर के उपलब्ध होने से पूर्व किये गये उपचारों से भावी खतरों को टाला जा सके। वस्तुत: प्राथमिक चिकित्सा द्वारा रोगी या दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की स्थिति को उपयुक्त डॉक्टरी सुविधाओं के उपलब्ध होने के पूर्व और अधिक हालत बिगड़ने से रोका जा सकता है।

प्राथमिक चिकित्सा की परिभाषा

डॉक्टर के पहुँचने से पूर्व दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को दी जाने वाली चिकित्सीय सहायता 'प्राथमिक चिकित्सा' कहलाती है। इसके लिए प्राथमिक चिकित्सक को प्राथमिक चिकित्सा का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। प्राथमिक चिकित्सा के लिए मुख्य रूप से दुर्घटना स्थल के आस-पास प्राप्त सामग्री काम में लाई जाती है। प्राथमिक चिकित्सा को किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। यह सहायता मात्र इसलिए दी जाती है कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को डॉक्टरी सहायता मिलने से पूर्व उसकी दशा अधिक न बिगड़े।

प्राथमिक चिकित्सा के उद्देश्य

प्राथमिक चिकित्सा के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

(1) अविलम्ब सहायता–प्राथमिक चिकित्सा का सर्वप्रथम उद्देश्य दुर्घटना होते ही तुरन्त कुछ ऐसी आवश्यक चिकित्सीय सहायता प्रदान करना है जिससे दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की स्थिति को बिगड़ने से रोका जा सके।

(2) रोगी के जीवन की रक्षा करना–गम्भीर दुर्घटना के समय प्राथमिक चिकित्सा के अभाव में व्यक्ति का जीवन खतरे में पड़ सकता है। अत: प्राथमिक चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना है।

(3) अस्थायी चिकित्सा–डॉक्टरी चिकित्सा आरम्भ होते ही प्राथमिक चिकित्सा रोक दी जाती है ताकि व्यक्ति को उचित डॉक्टरी सहायता प्राप्त हो सके। इस प्रकार प्राथमिक चिकित्सा का उद्देश्य डॉक्टरी सहायता मिलने से पूर्व व्यक्ति की दशा को ठीक बनाए रखना है। अत: यह अस्थायी चिकित्सा है।

प्राथमिक चिकित्सा की आवश्यकता

प्राथमिक चिकित्सा की आवश्यकता प्राय: निम्न समय पर पड़ती है—

(1) अधिक रक्तस्राव–शरीर से अधिक रक्तस्राव होना मनुष्य के जीवन संकट का लक्षण है। अत: इस समय प्राथमिक चिकित्सा अत्यन्त आवश्यक है।

(2) दम घुटने पर–यदि किसी कारण व्यक्ति का दम घुटकर उसकी श्वास बन्द हो जाए तो तुरन्त प्राथमिक चिकित्सा दी जानी चाहिए।

(3) आग लगने पर–यदि किसी व्यक्ति का शरीर जल जाए या उसके कपड़ों में आग लग जाए तो आग से बचाव के लिए प्राथमिक चिकित्सा की आवश्यकता होती है।

(4) पानी में डूबने पर–व्यक्ति के नदी, नहर, कुएँ आदि में डूब जाने पर पानी से निकाले हुए व्यक्ति को डॉक्टर के आने से पूर्व उसको प्राथमिक चिकित्सा करना अत्यन्त आवश्यक है।

(5) हड्डी टूटने या मोच आने पर–हड्डी टूटने या मोच आने पर व्यक्ति कभी-कभी बिल्कुल अशक्त हो जाता है तथा अत्यन्त जटिल स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अत: उसकी दशा को अधिक गम्भीर न होने देने के लिए प्राथमिक चिकित्सा अत्यन्त आवश्यक है।

(6) बिजली का झटका लगने पर–बिजली का झटका लगने पर व्यक्ति एकदम संज्ञा शून्य हो जाता है। अत: उसे भी प्राथमिक चिकित्सा द्वारा उसे तुरन्त राहत पहुँचाना आवश्यक है।

(7) आँख, कान या नाक में किसी अवरोध के कारण–कभी-कभी व्यक्ति की आँख, कान अथवा नाक में कोई वस्तु चली जाती है तो ऐसी स्थिति में प्राथमिक चिकित्सा देना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

(8) विष या मादक वस्तु खा लेने पर–विष या मादक वस्तु खा लेने पर भी व्यक्ति संज्ञा शून्य हो जाता है। इस अवस्था में उसका जीवन खतरे में पड़ सकता है। अत: उसे प्राथमिक चिकित्सा देना आवश्यक हो जाता है।

(9) विषैले जीव-जन्तुओं के काटने पर–प्राय: व्यक्ति को पागल कुत्ते, बिच्छू, साँप आदि के काट लेने पर उसके विष का शरीर में फैलने का भय बना रहता है, जिससे उसका जीवन खतरे में पड़ सकता है। अत: उसे तुरन्त प्राथमिक चिकित्सा देना आवश्यक हो जाता है।

प्राथमिक-चिकित्सा का महत्त्व

प्राथमिक चिकित्सा विद्यालय से बाहर और विद्यालयी जीवन दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है। विद्यालय में छात्रों की चंचलता तथा अन्य कारणों से दुर्घटनाएँ होती रहती हैं और वहाँ दुर्घटना के समय डॉक्टर उपलब्ध नहीं हो पाता। ऐसे में प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(1) छोटी-छोटी दुर्घटनाओं में प्राथमिक चिकित्सा बहुत कारगर सिद्ध हो सकती है।

(2) अचानक घायल या रोगी व्यक्ति को डॉक्टर की चिकित्सा मिलने से पूर्व प्राथमिक सहायता दी जा सकती है और उसे सुरक्षित रखा जा सकता है।

(3) आजकल विद्यालयों में स्वास्थ्य-शिक्षा को महत्त्व दिया जा रहा है। ऐसे में प्राथमिक चिकित्सा शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि यह चिकित्सा शिक्षा का व्यावहारिक रूप है।

(4) विद्यालय में प्राथमिक चिकित्सा व्यवस्था होने पर बालकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। उनमें अपने विद्यालय एवं शिक्षक के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव उत्पन्न होता है।

(5) विद्यालय में खेलकूद प्रतियोगिता तथा खेलकूद सम्बन्धी अनेक कार्यक्रम चलते रहते हैं जहाँ चोट लगने या दुर्घटना होने की अधिक सम्भावना होती है। इसलिए छात्रों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्राथमिक चिकित्सा आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। ➤

प्रश्न 2—प्राथमिक चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए तथा प्राथमिक चिकित्सा की आवश्यक सामग्री का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर–

प्राथमिक चिकित्सा के सिद्धान्त

प्राथमिक चिकित्सा के कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं। एक प्राथमिक चिकित्सक को इन सिद्धान्तों की जानकारी होनी चाहिए तथा उनका पूर्णत: पालन करना चाहिए। ये सिद्धान्त निम्न हैं—

(1) तुरन्त चिकित्सा–दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को तुरन्त चिकित्सा प्रदान करना प्राथमिक चिकित्सा का मुख्य सिद्धान्त है। प्राथमिक चिकित्सा में विलम्ब का अर्थ है उसका जीवन संकट में डाल देना।

(2) दुर्घटना की प्रकृति का ज्ञान–घायल व्यक्ति को बाहरी अथवा भीतरी चोट लग सकती है। अत: तुरन्त इस बात का निर्णय करना चाहिए कि चोट कहाँ लगी है, चोट कैसी है। यदि दुर्घटनाएँ छोटी है तो प्राथमिक चिकित्सक स्वयं चिकित्सा कर सकता है, परन्तु यदि दुर्घटना गम्भीर है तो चिकित्सक को बुलाना चाहिए। अत: दुर्घटना की प्रकृति का निश्चय करना आवश्यक है। ऐसी परिस्थितियों में निम्न प्रकार निर्णय लिया जा सकता है—

(अ) चरित्र वर्णन–सचेत अवस्था में रोगी के कहने से अथवा अचेत अवस्था में दुर्घटना स्थल के वातावरण को देखकर रोग का निर्णय किया जा सकता है। जैसे शीशी, पुड़िया आदि देखकर विषपान, गले में फन्दा आदि लगा होने पर दम घुटने का निर्णय करना आदि।

(ब) लक्षण–घायल व्यक्ति के लक्षण से दुर्घटना तथा उसकी घायल अवस्था का निर्णय किया जा सकता है, जैसे—रक्तस्राव होना, छटपटाना, किसी अंग का क्रियाशील होना तथा किसी अंग से सूजन आना आदि।

(3) आराम की स्थिति में रखना–प्राथमिक चिकित्सा देते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि रोगी को इस स्थिति में रखा जाए जिससे उसे अधिक पीड़ा का अनुभव न हो।

(4) खतरे से बाहर करना–दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को ऐसी चिकित्सा देनी चाहिए जिससे उसका जीवन खतरे से बाहर हो जाए।

(5) परिस्थिति पर नियन्त्रण–दुर्घटना होने पर लोग घायल के चारों ओर भीड़ लगा लेते हैं तथा अपनी सलाह देने का भी प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति में परिस्थिति पर नियन्त्रण करना तथा भीड़ को तुरन्त हटा देना आवश्यक होता है, जिससे प्राथमिक चिकित्सक सुचारू रूप से उसे चिकित्सा प्रदान कर सके।

(6) उपलब्ध सामग्री का उपयोग–घायल को चिकित्सा देने के लिए उस स्थान पर उपलब्ध सामग्री से सहायता लेना भी प्राथमिक चिकित्सक का एक महत्त्वपूर्ण एवं विवेकपूर्ण निर्णय है।

(7) डॉक्टरी चिकित्सा या ऐम्बुलेन्स का प्रबन्ध–प्राथमिक चिकित्सक को घायल को चिकित्सा देने हेतु किसी अन्य व्यक्ति द्वारा डॉक्टर बुलाने अथवा घायल को ले जाने के लिए ऐम्बुलेन्स या स्ट्रेचर का प्रबन्ध करवाना चाहिए तथा डॉक्टर को स्पष्ट सूचित करवा देना चाहिए कि घायल को किस प्रकार की चोट है तथा किस प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता है।

प्राथमिक चिकित्सा के लिए आवश्यक सामग्री अथवा वस्तुएँ

प्राथमिक चिकित्सा करने के लिए विभिन्न प्रकार की सामग्री तथा सामान्य औषधियों आदि की आवश्यकता होती है। इन सामग्रियों को एक डिब्बे में एकत्र करके ऐसे स्थानों पर रख देना चाहिए जहाँ वह सरलता से उपलब्ध हो सकें। ऐसा करने से दुर्घटना होने पर रोगी का उपचार तुरन्त किया जा सकता है। इस डिब्बे को 'फर्स्ट एड बॉक्स' कहते हैं। इस पर + चिन्ह अंकित कर देना चाहिए। यह चिन्ह डॉक्टरी पेशे से सम्बन्धित है।

प्रत्येक व्यक्ति पर हर समय **फर्स्ट एड बॉक्स** (First-aid Box) अपने साथ नहीं रख सकता। घर से बाहर अन्यत्र किसी दुर्घटना स्थल पर तो वहीं पर उपलब्ध सामग्री से काम चलाना पड़ता है परन्तु घर मे हुई दुर्घटना के समय इससे बहुत सुविधा मिलती है।

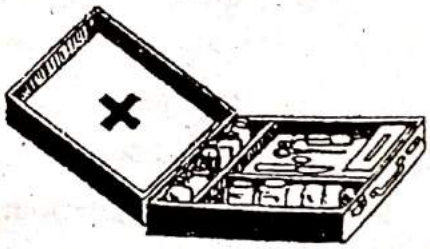

चित्र-फर्स्ट एड बॉक्स

प्राथमिक चिकित्सा के लिए बहुत अधिक सामान की आवश्यकता नहीं होती। प्राथमिक चिकित्सक को जिस सामान की आवश्यकता होती है वह इस डिब्बे में आ सकता है। प्रत्येक गृहिणी को अपने घर में यह सब सामान आवश्यक रूप से रखना चाहिए। इसके साथ रेडक्रॉस सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपचार पत्रिका भी रखनी चाहिए। इससे रोगी का उपचार करने में सरलता रहती है, साथ ही सहायता भी मिलती है।

प्राथमिक चिकित्सा-बॉक्स में निम्न सामान व दवाइयाँ रखी होनी चाहिए—

(1) स्वच्छ, रुई, कॉटन, सफेद गॉज
(2) सुई, धागा
(3) छोटी कैंची
(4) चाकू, चिमटी
(5) सेफ्टी पिन
(6) तीली, फुरेरी

(7) दियासलाई
(8) चम्मच, गिलास
(9) थोड़ा पुराना साफ कपड़ा
(10) थर्मामीटर
(11) मोमबत्ती व टार्च
(12) 1", 2", 3", चौड़ी, लम्बी पट्टी
(13) टूर्नीकेट
(14) तिकोनी पट्टियाँ
(15) खपच्चियाँ
(16) आई ग्लास
(17) गर्म पानी की थैली
(17) बर्फ की थैली
(19) ड्रॉपर
(20) आयोडीन, पोटेशियम परमैंगनेट
(21) कृमिनाशक घोल
(22) पेंसिल व नोट बुक

कुछ घरेलू औषधियाँ

(1) डीटॉल—घाव धोने के लिए।
(2) टिंचर आयोडीन—घाव के लिए।
(3) मरक्यूरोक्रोम—घाव के लिए।
(4) फ्यूरमिन—चोट के लिए।
(5) बोरिक पाउडर—आँख सेंकने, घाव धोने के लिए।
(6) बरनाल—जले कटे पर लगाने के लिए।
(7) बोरोलीन—कटे पर लगाने के लिए।
(8) ग्लूकोस—गर्मी शान्त करने के लिए।
(9) फिटकरी—रक्त का बहना रोकने के लिए।
(10) नौसादर—चूना मिलाकर स्मेलिंग साल्ट बनाकर सुँघाने के लिए।
(11) अमृतधारा—हैजा, उल्टी व दस्त के लिए।
(12) आयोडेक्स—गूंमड़, हड्डियों के दर्द के लिए।
(13) पुदीन हरा—भोजन न पचने पर।
(14) पचनौल—अफारे के लिए।
(15) विक्स—सिर दर्द, सर्दी, जुकाम आदि के लिए।
(16) जैतून का तेल—जलने पर लगाने के लिए।
(17) ग्लिसरीन—मुँह के छालों के लिए।
(18) लौंग का तेल—दाँत दर्द के लिए।
(19) वैसलीन—खुश्की दूर करने के लिए।
(20) कोरामीन—जी घबराने पर।
(21) पोटेशियम परमैंगनेट—गरारे, साँप के कटे पर लगाने के लिए।
(22) टिकिया—एनासिन, नवलजीन, एनलजीन, ब्रूफेन, वोवरान, एस्प्रिन, डिस्प्रीन, बरालगन आदि।

इस सभी सामान को अलमारी में एक डिब्बे में रखना चाहिए। इसमें से कुछ अति आवश्यक औषधियाँ फर्स्ट एड बॉक्स में भी होनी चाहिए। इस सूची को आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है। ➤

प्रश्न 3—प्राथमिक चिकित्सक के गुणों तथा कर्त्तव्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर–

प्राथमिक चिकित्सक के गुण

प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण लेने वाला व्यक्ति प्राथमिक चिकित्सक कहलाता है। इसका ज्ञान तथा प्रशिक्षण बालिकाओं के लिए आवश्यक समझा गया है। इसलिए गृह विज्ञान में प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान तथा प्रशिक्षण देने की व्यवस्था का गुण है। प्राय: साधारण व्यक्ति चोट या घायल अवस्था देखकर घबरा जाता है और उस समय वह उचित निर्णय लेने की स्थिति में नहीं रहता। अत: प्राथमिक चिकित्सक में निम्न गुण होने आवश्यक हैं—

(1) स्वस्थ–एक सफल व कुशल चिकित्सक को स्वस्थ होना चाहिए तथा वह मजबूत हृदय वाला होना चाहिए।

(2) चतुर व आत्मविश्वासी–घायल को चिकित्सा देने हेतु निर्णय लेने के लिए प्राथमिक चिकित्सक का चतुर, विवेकशील व आत्मविश्वासी होना आवश्यक है। आत्मविश्वास के अभाव में रोगी की चिकित्सा में व्यवधान आएगा। अत: उसे दूसरे के सुझावों पर कम, अपने बुद्धि, चातुर्य पर अधिक भरोसा होना चाहिए।

(3) धैर्यवान–प्राथमिक चिकित्सक को घबराना या निराश नहीं होना चाहिए। रोगी की दशा देखकर उसे अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए।

(4) कुशल–प्राथमिक चिकित्सक को चिकित्सा सम्बन्धी कार्य में कुशल होना चाहिए, जिससे वह घायल की उचित चिकित्सा कर सके तथा उसे आराम भी दे सके।

(5) सूझबूझ–प्राथमिक चिकित्सक को अधिक सूझबूझ वाला होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति समस्या का कोई न कोई हल निकाल ही लेता है।

(6) निर्णयात्मक बुद्धि–प्राथमिक चिकित्सक में निर्णयात्मक बुद्धि होनी चाहिए ताकि वह दुर्घटना व रोगी से सम्बन्धित निर्णय तुरन्त ले सके।

(7) सहनशीलता–प्राथमिक चिकित्सक को सहनशील होना चाहिए। उसे घायल के कटु व्यवहार से तथा आस-पास खड़े व्यक्तियों की आलोचना से प्रभावित नहीं होना चाहिए। उसे तटस्थ होकर अपना कर्त्तव्य पूरा करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और रोगी को भी धीरज दिलाना चाहिए।

(8) मधुर व्यवहार–प्राथमिक चिकित्सक का व्यवहार मधुर एवं सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए ताकि वह अपने व्यवहार से रोगी वह उसके आत्मीय जनों को धैर्य बँधा सके।

(9) दयालु–प्राथमिक चिकित्सक को दयालु तथा सेवाभाव वाला होना चाहिए।

(10) सामाजिकता का गुण–प्राथमिक चिकित्सक में सामाजिकता का गुण भी होना चाहिए इससे वह घायल व अन्य व्यक्तियों का विश्वासपात्र बनकर उनसे पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त कर सकता है।

प्राथमिक चिकित्सक के कर्त्तव्य

प्राथमिक चिकित्सक को कुशल व बुद्धिमान होने के साथ-साथ कर्त्तव्यपरायण भी होना चाहिए। एक सफल चिकित्सक के निम्न कर्त्तव्य होते हैं—

(1) स्थायी चिकित्सा की व्यवस्था–प्राथमिक चिकित्सक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि दुर्घटना की प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करके किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा डॉक्टर बुलाने का प्रबन्ध करे एवं उसे घायल अवस्था की आवश्यक जानकारी से भी अवगत करा दे, जिससे डॉक्टर अपनी पूरी तैयारी के साथ आ सके।

यदि घायल को निकट ही चिकित्सक के पास अथवा चिकित्सालय में भेजना हो तो उसे ले जाने के लिए सवारी, एम्बुलेन्स या स्ट्रेचर की व्यवस्था कराए।

(2) रक्तस्राव रोकना–प्राथमिक चिकित्सक का यह महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि सबसे पहले रक्तस्राव रोकने की चिकित्सा करे जिससे शरीर से अधिक रक्त निकल कर घायल की स्थिति गम्भीर न हो सके।

(3) सुरक्षित स्थान में लिटाना–यदि रोगी असुरक्षित स्थान में हो, तो वहाँ से हटाकर किसी सुरक्षित व हवादार स्थान में लिटा देना चाहिए। रोगी को धूप से बचाना चाहिए एवं विश्राम देने का प्रयत्न करना चाहिए। रोगी के पास भीड़ जमा नहीं होने देनी चाहिए।

(4) कृत्रिम श्वास दिलाना–यदि घायल को श्वास न आ रही हो तो तुरन्त कृत्रिम श्वास दिलवाना चाहिए। यदि घायल मूर्छित है तो वह दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति की मूर्छा दूर करने का प्रयास करे।

(5) वमन कराना–यदि घायल ने "न जलने वाला" विष पी लिया हो तो तुरन्त उसे वमन कराने का उपाय करना चाहिए।

(6) हड्डी टूटने की चिकित्सा–यदि रोगी के किसी अंग की हड्डी टूटने की आशंका हो तो उस अंग को हिलाना-डुलाना नहीं चाहिए। वरन् जिस स्थिति में वह अधिक पीड़ा का अनुभव न करे उसे उसी स्थिति में रखना चाहिए जिससे और अधिक कष्ट न हो तथा हड्डी टूटने में और वृद्धि न हो।

(7) हड्डी उतरने व मोच आने पर–हड्डी उतरने या मोच आने पर उस अंग के वस्त्र अथवा जूते, मोजे तुरन्त उतार देने चाहिए अन्यथा सूजन आ जाने पर चिकित्सा करने के लिए इन्हें कैंची से काटना पड़ेगा।

(8) विष की चिकित्सा–यदि जीव-जन्तु के काटने से शरीर मे विष फैलने की आशंका हो तो कटे हुए स्थान के दोनों ओर कसकर बन्द बाँध देना चाहिए ताकि विष पूरे शरीर मे न फैल सके।

(9) पानी में डूबने पर–पानी मे डूबे हुए व्यक्ति के पेट में पानी भर जाने पर उसके मुँह से कीचड़ आदि निकाल कर रोगी को उल्टा करके उसके पेट का पानी निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि श्वास बन्द हो तो कृत्रिम श्वास दिलवानी चाहिए।

(10) बिजली का करन्ट लगने पर–यदि कोई व्यक्ति बिजली से चिपक गया हो तो सर्वप्रथम मेन स्विच बन्द कर देना चाहिए। तत्पश्चात् लकड़ी या रस्सी के फन्दे से व्यक्ति को छुड़ाना चाहिए। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति के ऊपर कम्बल डाल देना चाहिए तथा पीने के लिए गर्म चीजें देनी चाहिए। यदि रोगी बेहोश हो गया हो, तो कृत्रिम श्वास देनी चाहिए। ➤

प्रश्न 4—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

(i) मूर्छा या बेहोशी (Unconsciousness), (ii) दम घुटना (To be Suffocated), (iii) हिस्टीरिया (Hysteria)।

उत्तर–

(i) मूर्छा या बेहोशी (Unconsciousness)

जब किसी कारणवश स्नायु संस्थान में रक्त का प्रवाह कम होने या रुकने पर श्वास क्रिया में कोई रुकावट आ जाती है तो मस्तिष्क प्रभावित होकर अपना कार्य बन्द कर देता है। इस स्थिति में मनुष्य संज्ञा शून्य हो जाता है जिससे उसके सुनने, समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है, और वह मूर्छित या बेहोश हो जाता है। इस दशा में मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्य अंग क्रियाशील रहते हैं। सांस चलती है हृदय की धड़कन चालू रहती है तथा नाड़ी भी चलती रहती है।

मूर्छा के कारण–(1) अत्यधिक कमजोरी, (2) भोजन की कमी, (3) अधिक रक्तस्राव हो जाना, (4) सिर में चोट लगना, (5) किसी प्रकार का भय, (6) सदमा पहुँचना, (7) अत्यधिक गर्मी, (8) दम घुटना, (9) हिस्टीरिया या मिर्गी के दोरे आदि।

लक्षण–(1) मूर्छा से पहले व्यक्ति को बेचैनी व घबराहट होने लगती है। (2) आँखों के आगे अंधेरा छाने लगता है। (3) उसे चक्कर आने लगते हैं। (4) माथे पर पसीना आने लगता है। (5) चेहरा पीला पड़ जाता है एवं होठ नीले-से हो जाते हैं। (6) रोगी की सुनने-समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है। (7) वह संज्ञा शून्य व शिथिल होकर गिर पड़ता है। (8) नाड़ी धीमी चलती है। (9) श्वास धीमी चलती है।

उपचार–(1) रोगी को हवादार सुरक्षित स्थान पर लिटा दें। उसका सिर निचाई पर तथा पैर ऊँचाई की ओर होना चाहिए जिससे रक्त का दौरा सिर की ओर अधिक तेजी से होने लगे। (2) रोगी के पास भीड़ एकत्र न होने दें ताकि उसे हवा मिल सके। (3) रोगी के वस्त्र ढीले कर दीजिए। (4) रोगी के हाथ-पैर ठंडे होने की स्थिति में उसे कम्बल से ढक दीजिए। (5) मुँह पर पानी की छींटें मारकर रोगी को होश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए अथवा **स्मेलिंग साल्ट** सुँघाना चाहिए। (6) यदि रोगी को कहीं पर चोट लग गई हो तो उसका उपचार करें। (7) रोगी को होश आने पर गर्म चाय या दूध देना चाहिए। (8) मूर्छा समाप्त होने पर रोगी को थोड़ा चलाना चाहिए।

(ii) दम घुटना (To be Suffocated)

अधिक भीड़, दूषित वायु, धुआँ अथवा बन्द स्थान पर अधिक देर रहने के कारण व्यक्ति का दम घुटने लगता है तथा वह बहुत बेचैन हो जाता है। दम घुटने पर श्वास नलिका पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। अत: उसकी जीवन रक्षा के लिए तुरन्त उपाय करने चाहिए।

लक्षण–(1) सिर चकराने व जी मिचलाने लगता है।

(2) आँखों के आगे अंधेरा आ जाता है।

(3) रोगी को कमजोरी तथा शरीर में शिथिलता आ जाती है।

उपचार–(1) सर्वप्रथम रोगी को ऐसे वातावरण से हटाकर खुली हवा में ले जाकर लिटाएँ।

(2) यदि श्वास रुक गई है तो तुरन्त स्वस्थ व्यक्ति के मुँह से श्वास दिलाने का प्रयत्न कीजिए।

(3) यदि धड़कन बन्द होती-सी प्रतीत होती हो तो सीने पर दाब डालकर कृत्रिम श्वास दिलाने का प्रयत्न करें।

(4) यदि पास ही ऑक्सीजन की व्यवस्था हो तो ऑक्सीजन दिलवाने की व्यवस्था करें।

(5) तत्काल चिकित्सक से सम्पर्क करें।

(iii) हिस्टीरिया (Hysteria)

हिस्टीरिया मस्तिष्क सम्बन्धी रोग है जो मन में विकार उत्पन्न होने से होता है। यह प्राय: युवावस्था में अधिक सुख की कामना अथवा अधिक दु:ख पर नियन्त्रण न कर पाने की स्थिति मे होता है।

लक्षण–(1) हिस्टीरिया के रोगी को सबसे पहले घबराहट तथा बेचैनी होती है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है तथा रोगी को गर्मी लगती है।

(2) श्वास व नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है।

(3) दाँत व मुट्ठियाँ भिच जाती हैं। शरीर ऐंठने लगता है। रोगी की स्थिति अर्द्धमूर्छावस्था की स्थिति होती है परन्तु वह अन्य लोगों की बातें भी सुन व समझ सकता है।

(4) ऐसा रोगी मूर्छावस्था में प्राय: शान्त नहीं होता। वह रोने या हँसने लगता है परन्तु आँखें बन्द रहती हैं और आँखें मिचमिचाती रहती हैं।

(5) मस्तिष्क पूर्ण रूप से अचेतन अवस्था में नहीं होता। त्वचा पर चुटकी काटने का अनुभव रोगी को होता है।

उपचार–(1) रोगी को सुरक्षित व हवादार स्थान में लिटाइए।

(2) रोगी के मुँह पर पानी की छींटें दें, नाक बन्द कर होश में लाने का प्रयत्न कीजिए।

(3) चिकित्सक के परामर्श से हिस्टीरिया के मरीज को सुरक्षित स्थान में लिटाकर उसके पास से हट जाना चाहिए। अधिक सहानुभूति दिखाने से रोगी ठीक होने में अधिक समय लेता है।

(4) चेतना में आने पर रोगी को गर्म चाय अथवा दूध पीने को दीजिए।

(5) रोगी से अधिक बातें नहीं करनी चाहिए।

(II) मौखिक परीक्षा (VIVA-VOCE)

प्रश्न 1—N.C.T.E. का पूरा नाम लिखिये।

उत्तर—N.C.T.E. का पूरा नाम हैं; National Council of Teacher Education. (राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद्)।

प्रश्न 2—AICTE किसे कहते हैं?

उत्तर—AICTE का अर्थ ऑल इन्डिया शिक्षक शिक्षा परिषद् हैं; All India Council of Teacher Education.

प्रश्न 3—शैक्षिक निर्देशन से क्या अभिप्राय है?

उत्तर—शैक्षिक निर्देशन के अन्तर्गत बालकों की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के उपाय को बताया जाता है।

प्रश्न 4—खेल विधि क्या है?

उत्तर—फ्रोबेल ने बच्चों की शिक्षा के लिए एक नवीन विधि का निर्माण किया जिसे खेल विधि कहते हैं। जिसका मुख्य उद्देश्य बालकों को खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करना है। फ्रोबेल के मतानुसार बालक संगीत, हाव-भावों तथा वस्तुओं के निर्माण के द्वारा अपने विचारों तथा भावनाओं को प्रकट करता है।

प्रश्न 5—शिक्षण सामग्री किसे कहते हैं?

उत्तर—शिक्षण को सरल एवं प्रभावशाली बनाने वाली सहायक सामग्री को शिक्षण सामग्री कहते हैं।

प्रश्न 6—शिक्षण सामग्री कितने प्रकार की होती है?

उत्तर—तीन प्रकार की, दृश्य, श्रव्य एवं दृश्य-श्रव्य।

प्रश्न 7—भाषा कौशल कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—चार प्रकार के-सुनना, बोलना, पढ़ना तथा लिखना।

प्रश्न 8—किन्डरगार्टन पद्धति के आविष्कारक का नाम बताओ?

उत्तर—ऑगस्ट फ्रेडरिक फ्रोबेल।

प्रश्न 9—SCERT का पूना नाम बताइए?

उत्तर—State Council of Educational Research and Training.

प्रश्न 10—E.C.C.E. का क्या अर्थ है?

उत्तर—E.C.C.E. (Early Childhood Care Education) का अर्थ बच्चे की प्रारम्भिक अवस्था की सुरक्षा एवं शिक्षा से है जो कि बच्चे के जन्म से लेकर 6 वर्ष तक मानी जाती है।

प्रश्न 11—E.C.E. क्या है?

उत्तर—E.C.E.का अर्थ है; (Early Childhood Education) जिसमें खेल तथा क्रियाओं द्वारा बच्चों को पढ़ाया जाता है तथा बच्चे के सम्पूर्ण विकास पर ध्यान दिया जाता है।

प्रश्न 12—पूर्व बाल्यावस्था (Early Childhood) का क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भारत के सन्दर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के अनुसार पूर्व बाल्यावस्था में 0 से 6 वर्ष तक की आयु पूर्व बाल्यावस्था कहलाती है।

प्रश्न 13—I.C.D.S का पूरा नाम क्या है?

उत्तर—Integrated Child Development Services. इस कार्यक्रम के अन्तर्गत बच्चे के विकास, स्वास्थ्य, पौष्टिक भोजन तथा पूर्व प्राथमिक शिक्षा की पूर्ति के लिए कार्य योजना है। इस योजना का उद्देश्य 6 वर्ष से कम आयु वर्ग के गरीब बच्चों के लिए इन सेवाओं को प्रदान करना है।

प्रश्न 14—भारत में कौन-कौन से मुख्य पूर्व प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम चल रहे हैं?

उत्तर—1. संगठित बाल विकास सेवाएँ, 2. स्वयं सेवी संगठन को पूर्व प्राथमिक शिक्षा केन्द्रों को चलाने में सहायता की योजना, 3. स्वयं सेवी संस्थाओं के द्वारा सरकार की सहायता से चलने वाले बालवाड़ी केन्द्र, 4. राज्य सरकारों, नगर पालिका एवं व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा चलाये जो रहे पूर्व प्राथमिक विद्यालय।

प्रश्न 15—I.C.C.W. का पूरा नाम क्या है व इसकी स्थापना कब हुई?

उत्तर—Indian Council for Child Welfare, इसकी स्थापना सन् 1952 ई. में हुई।

प्रश्न 16—C.S.W.B. का पूरा नाम क्या है व इसकी स्थापना कब हुई?

उत्तर—Central Social Welfare Board (केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद) इसकी स्थापना सन् 1953 में हुई।

प्रश्न 17—N.C.E.R.T. का पूरा नाम क्या है व इसकी स्थापना कब हुई?

उत्तर—N.C.E.R.T. का पूरा नाम National Council of Educational Research & Training है। इसकी स्थापना सन् 1963 में हुई।

प्रश्न 18—N.C.E.R.T. के कार्य बताइये?

उत्तर—N.C.E.R.T. का कार्य बच्चों के अध्ययन को संचालित करना तथा बाल-शिक्षा की बेहतर विधियों का विकास करना है। स्वैच्छिक संगठनों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देना तथा अध्यापक के लिए पुस्तकें प्रदान कर अध्यापकों का मार्गदर्शन करना।

प्रश्न 19—भारत में कितने प्रकार की पूर्व प्राथमिक शिक्षा संस्थाएँ हैं?

उत्तर—भारत में तीन प्रकार की पूर्व प्राथमिक शिक्षा संस्थाएँ हैं।

प्रश्न 20—गत्यात्मक विकास से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—समन्वय एवं प्रक्रिया को जिसके द्वारा बच्चा अपने शरीर का प्रयोग करना सीखना है, गत्यात्मक विकास के रूप में जाना जाता है।

प्रश्न 21—बच्चों की भाषा का विकास करने का क्या उद्देश्य होना चाहिए?

उत्तर—सुनना, बोलना, पढ़ना, लिखना।

प्रश्न 22—खेल विधि के लेखक का नाम बताइये?

उत्तर—फ्रोडरिक विलियम ऑगस्त फ्रोबेल।

प्रश्न 23—खेल विधि पर आधारित पाठ्य-सहगामी क्रियाएँ बताइये?

उत्तर—1. छात्र स्वशासन, 2. स्काउटिंग, 3. गर्ल गाइडिंग, 4. विद्यालय उत्सव, 5. पर्यटन, 6. एन.सी.सी, 7. ए.सी.ई., 8. खेल।

प्रश्न 24—गणित शिक्षण में खेलविधि का प्रयोग कैसे करेंगी?

उत्तर—विभिन्न वस्तुओं की सहायता से गिनती गिनना, टिकट जमा करके उनको 5 या 10 की ढेरियों में बाँधना, दुकानों का आयोजन करके वस्तुओं को गिनकर या तोलकर बेचना या हिसाब करना।

प्रश्न 25—ग्रंथियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर—नौ प्रकार की।

प्रश्न 26—पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में कार्य करने वाली किसी संस्था का नाम बताइये।

उत्तर—पर्यावरण संसाधनों के संरक्षण का अन्तर्राष्ट्रीय संघ (I.U.C.N.)

प्रश्न 27—पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम किस वर्ष बना?

उत्तर—1986 में।

प्रश्न 28—पर्सनैलिटी (Personality) शब्द की उत्पत्ति किस शब्द से हुई है?

उत्तर—पर्सोना (Persona) से।

प्रश्न 29—जुंग द्वारा व्यक्तित्त्व के प्रकार कौन-कौन हैं?

उत्तर—जुंग ने व्यक्तित्त्व के निम्नलिखित तीन प्रकार बताये हैं—1. अन्तर्मुखी 2. उभयमुखी 3. बहिर्मुखी।

प्रश्न 30—प्रधानाध्यापिका के प्रमुख कर्त्तव्य क्या हैं?

उत्तर—अध्यापक कार्य, निरीक्षण कार्य, अध्यापक कार्य का निरीक्षण, प्रधानाध्यापक द्वारा लोगों के साथ सम्पर्क, निरीक्षण, अन्य उत्तरदायित्त्व।

प्रश्न 31—कुछ बच्चे आक्रामक व्यवहार करते हैं तथा उपद्रव मचाते हैं। तब शिक्षिका (आप) क्या करेंगी?

उत्तर—शिक्षिका को ऐसे बच्चों के प्रति थोड़ा कठोर रहना चाहिए।

प्रश्न 32—बच्चा आक्रामक व्यवहार क्यों करता है ? क्या कारण होते है? शिक्षिका (आप) उसका समाधान कैसे करेंगी?

उत्तर—1. बच्चों को अतिरिक्त कार्यक्षमता व अन्य रोचक कार्य प्रदान करके सही दिशा प्रदान करनी चाहिए।

2. शिक्षिका को बच्चे के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने हेतु उनके माता-पिता से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए, जिससे बच्चे की समस्या सही तरह से समझ लें तथा उसका निदान उसी रूप में ढूँढ़ें।

प्रश्न 33—बाल विकास की अवस्थाएँ बताइये।

उत्तर—1. जन्म से पूर्व की अवस्था, 2. शैशवास्था, 3. बाल्यावस्था, 4. किशोरावस्था।

प्रश्न 34—सीखने के सिद्धान्त बताइये।

उत्तर—1. प्रयत्न एवं भूल का सिद्धान्त—प्रतिपादक **थार्नडाइक**।

2. सम्बन्ध प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त—प्रतिपादक **पेवलॉव**।

3. सूझ तथा अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त—प्रतिपादक **कोहलर**।

4. सक्रिय अनुकूलित-अनुक्रिया का सिद्धान्त—प्रतिपादक **स्किनर**।

प्रश्न 35—छात्र अध्यापन करने के लिए आप सूचनाएँ किन विधियों से प्राप्त करेंगे?

उत्तर—1. प्रश्नावली 2. पर्यवेक्षण या अवलोकन 3. संकलित आलेख-पत्र 4. साक्षात्कार 5. व्यक्ति-वृत (केस स्टेडी) अध्ययन।